ईश्वरचंद्र विद्यासागर

रचना भोला 'यामिनी'

ईश्वरचंद्र विद्यासागर

रचना भोला 'यामिनी'

विद्या विहार, नई दिल्ली

'मम्मा के लिए!'

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

सबके बीच 'सर्वोत्तम महापुरुष' के नाम से विख्यात ईश्वरचंद्र विद्यासागर न केवल विद्यासागर, अपितु करुणासागर भी थे। कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के शब्दों में वे प्रकृति की रचना में एक लोकोत्तर महामानव थे।

इस युग में मानव, महामानव और फिर 'लोकोत्तर महामानव' कहलाना आपने आप में एक दुर्लभ उपलब्धि है। जहाँ नित नए स्वार्थों व छल-कपट के बीच सिसकती मानवता मनुष्य मात्र के लिए तरस रही है। ऐसे में एक लोकोत्तर महामानव का आविर्भाव वस्तुतः एक बड़ी देन थी।

अपने हितों की उपेक्षा कर सदैव दूसरे व्यक्ति का हित साधना; स्वयं को सुख-सुविधाओं से दूर रखकर दूसरे के कष्ट दूर करना जैसी बातें हमें अतिशयोक्ति भले ही जान पड़ें, किंतु विद्यासागरजी के जीवन की रोजमर्रा की घटनाएँ थीं।

एक कर्मठ, उत्साही, परोपकारी, स्वाभिमानी, स्नेही व दृढ़ व्यक्तित्व के स्वामी ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी अद्वितीय पुरुष थे। कहीं वे बच्चों की शिक्षा में सुधार के सुझाव क्रियान्वित करते दिखते हैं तो कहीं पुस्तक लेखन से अपनी प्रतिभा का परिचय देते हैं। कहे सामाजिक कुरीतियों पर चोट करते दिखते हैं तो कहीं आंग्ल समाज के प्रभुत्वसंपन्न वर्ग से टक्कर लेते दिखते हैं।

ईश्वरचंद्रजी के स्वभाव की यह विशेषता भी अनुपम है। उन्होंने आजीवन अंगेजों के बीच, उनके साथ कार्य किया; किंतु जहाँ कभी अपने सिद्धांतों का प्रश्न आया, उन्होंने झुकने से इनकार कर दिया। उनके जीवन के चप्पल संस्मरण पाठकों को जहाँ एक ओर गुदगुदाते हैं, वहीं एक ऐसे दबंग, आत्मविश्वासी तथा स्वाभिमानी पुरुष से भी मिलवाते हैं, जो किसी भी कीमत पर अपने देश के गौरव को बचाए रखना चाहता था।

एक महान् समाज-सुधारक के रूप में ईश्वरचंद्रजी ने विधवा-विवाह को प्रोत्साहित किया व बहुपत्नी प्रथा जैसी कुरीति पर रोक लगाने का प्रयत्न किया। वे उन लोगों में से थे, जिन्होंने पूर्वी व पश्चिमी सभ्यता के मेल से उत्पन्न मूल्यों तथा विश्वासों को अपनाया, किंतु ये सभी मूल्य किसी आडंबर या प्रभाव की उपज नहीं थे। संस्कृत के प्रकांड पंडित ने गहरे चिंतन-मनन के पश्चात् ही पश्चिमी सभ्यता की कुछ विशेषताओं को आत्मसात् किया।

अंग्रेजी शिक्षा का कार्य भी इन्हीं में से एक था। उन्होंने संस्कृत कॉलेज के आचार्य होने के बावजूद अंगेजी शिक्षा को प्रोत्साहित किया; क्योंकि वे जानते थे कि यदि देश को नवीन

तकनीकी सहित प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करना है तो अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान के भंडार को अपनाना ही होगा। उन्हेंने अपने कॉलेज में संस्कृत शिक्षा के बाद छात्रों के लिए अंग्रेजी शिक्षा को अनिवार्य कर दिया।

यह अनिवार्यता केवल छात्रों के लिए नहीं थी। उन्होंने स्वयं अंग्रेजी सीखने के लिए अध्यापक नियुक्त किया और इस भाषा में प्रवीणता पाई।

पैतृक वीरसिंह गाँव की जीर्ण-शीर्ण कुटिया से उठकर कलकत्ता महानगरी के उच्चाधिकारियों के बीच अपनी पैठ बनानेवाले ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी ने जीवन में धन व मान-सम्मान सबकुछ पाया, किंतु सदा अपनी जड़ों से जुड़े रहे। कहते हैं कि एक बार वे जुलूस में किसी स्थान से निकलनेवाले थे। उस स्थान का जनसमुदाय पंडितजी के दर्शन करना चाहता था। वे लोग सड़क के किनारे कतारें लगाए खड़े थे। यह क्या? जुलूस तो निकल भी गया, किंतु पंडित विद्यासागर तो कहीं दिखे ही नहीं? सभी सोच रहे थे कि संभवतः वे गए ही न हों। तभी किसी ने बताया कि जीप में सादे वत्रों में किनारे पर पंडित ही तो खड़े थे। वे लोग दंग रह गए कि इतने बड़े महापुरुष की ऐसी सादगी। उनके अनुसार ते पंडितजी को अच्छी पोशाक में दिखना चाहिए था।

प्रस्तुत जीवन-गाथा में मैंने विद्यासागरजी के जीवन से जुड़े कुछ विशेष पक्षों को ही रेखांकित किया है। उनके जीवन की समस्त उपलब्धियों को शब्दबद्ध कर सवूँ, इतनी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। पाठक इस प्रेरणादायक जीवनी से कुछ पेरणा ले सकें तो मैं अपना श्रम सार्थक जानूँगी।

जिन लेखकों की कृतियों से पुस्तक-लेखन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिली, उनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। अपने स्नेही परिवार के ऋण से तो कभी उऋण हो ही नहीं सकती, जिसके योगदान के बल पर ही यह लेखनी निरंतर गतिमान रह पाती है। पति श्री संजय भोला व पुत्र कुशल भोला, जहाँ एक ओर आवश्यक संशोधनों के लिए सुझाव देते हैं, वहीं दूसरी ओर सकारात्मक प्रतिक्रियाओं से मेरा मनोबल भी बनाए रखते हैं।

परमपिता परमात्मा की कृपा व शुभ आशीर्वाद सब पर बना रहे, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ,

-रचना भोला ‘यामिनी’

जन्म व परिस्थितियाँ

‘विद्यासागर’श्री ईश्वरचंद्र की उपाधि है, जो कलकत्ता के पंडितों ने उनके गंभीर संस्कृत ज्ञान के लिए उन्हें प्रदान की थी; किंतु ईश्वरचंद्र केवल विद्या के ही सागर नहीं, वे करुणा और उदारता आदि अनेक गुणों के भी सागर थे।

(-गांधीजी-इंडियन ओपीनियन)

बंगाल के वीरसिंह गाँव में 26 सितंबर, 1820 को एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में बालक का जन्म हुआ। कुटिया की दरिद्रता व निर्धनता ने नवजात शिशु का स्वागत किया। माता भगवती देवी ने पुत्र को गले से लगाया तो मानो सभी रोग-शोक व कष्ट कहीं विलीन हो गए। वह शिशु कोई और नहीं, ईश्वरचंद्र विद्यासागर ही थे।

कहते हैं कि जब वे माता के गर्भ में थे तो माँ की दशा पागलों के समान थी। वे विक्षिप्तें के तरह व्यवहार करतीं। गाँव के अंधविश्वासी व अशिक्षित जनसमुदाय को यही लगा कि उन पर किसी भूत-प्रेत का साया है। दूर-दूर से तांत्रिक व ओझा बुलवाए गए, किंतु कोई भी भगवती देवी की दशा में सुधार नहीं ला सका।

फिर पड़ोस के गाँव से पंडित भवानंद शिरोमणि भट्टाचार्य को बुलवाया गया, जो कि ज्योतिष विद्या व चिकित्सा-शात्र के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने भगवती देवी की जाँच की, उनकी जन्मपत्री देखकर कुछ गणना की और उनकी सास दुर्गा देवी से बोले, “आपकी पुत्रवधू के गर्भ से अवश्य कोई महापुरुष जन्म लेगा। उसी के तेज के कारण बहू की यह दशा है। शिशु का जन्म होते ही वह स्वयं ठीक हो जाएगी।”

उस समय तो किसी ने उनकी बात का यकीन नहीं किया, किंतु ईश्वरचंद्र के जन्म के बाद भगवती देवी की दशा में परिवर्तन देख सभी आश्चर्य में पड़ गए।

जिस समय बालक का जन्म हुआ। पिता ठाकुरदास किसी काम से बाहर गए हुए थे। पितामह रामजय की प्रसन्नता का तो ठिकाना ही नहीं था। पहले वे परिवार से विरक्त थे, एकांत में पर्वत-स्थलों पर साधना कर रहे थे, किंतु अपने कुल में किसी महापुरुष के आगमन की भविष्यवाणी उन्हें वापस ले आई। संभवतः कुल के उसी दीपक ने जन्म लिया था, जिसके प्रखर आलोक से न केवल उनका कुल, बल्कि पूरी मानव जाति देदीप्यमान होनेवाली थी।

रामजय खुशी से हुलसते बाजार की ओर लपके, ताकि पुत्र को तत्काल पौत्र-जन्म की

सूचना दे सकें। उन्होंने दूर से ठाकुरदासजी को आते देखा तो चिल्लाए- “चलो, जल्दी घर चलो, घर में एक ‘एंड़ बाछुर’ हुआ है।”

ठाकुरदास पिता का परिहास समझ नहीं सके। दरअसल, उन दिनों घर की गाय भी गाभिन थी। उन्हें लगा कि गाय ने बछड़ा दे दिया। वे घर पहुँचते ही गौशाला की तरफ लपके तो पिता ने हँसकर कहा, “नही रे पगले! ‘एंड़ बाछुर’ तो यहाँ है।”

उन्हेंने नवजात पौत्र को गोद में लेकर कहा, “ये रहा एंड़ बाछुर! पता है, मैंने इसे इस नाम से क्यों पुकारा?” यह जिद्दी बालक जो भी ठान लेगा, वही करेगा। यह किसी का भय नहीं मानेगा।

पितामह ने तो ये शब्द परिहास में कहे थे, किंतु वे कहाँ जानते थे कि विधाता उनके मुख से शिशु का भावी चरित्र ही बखान करवा रहे थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी के जीवन में अनेक ऐसे प्रंग आते हैं, जहाँ हम उन्हें अपनी बात पर अडिग रहनेवाले व्यक्तित्व के रूप में पाते हैं। बालक ईश्वर के छह भाई व तीन बहनें थीं। परिवार पर दरिद्रता का घोर साया था। पिता ठाकुरदास ने बड़ी कठिनता से, कड़े परिश्रम के बाद कलकत्ता में नौकरी पाई। जिससे बमुश्किल पूरे परिवार का खर्च निकल पाता था।

ईश्वर को बचपन में अपने पितामह का साथ मिला। उनके पितामह के चरित्र की दृढ़ता व स्वाभिमान के किस्से आसपास के गाँवों तक फैले हुए थे। निश्चित रूप से बाल्यकाल के इस साथ ने विद्यासागरजी के व्यक्तित्व पर गहरी छाप छोड़ी। इस विषय में रवींद्रनाथ ठाकुर ‘विद्यासागर चरित’ में लिखते हैं-

“विद्यासागर को वीरसिंह गाँव में एक जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी के अतिरिक्त अपने पूर्वजों के चरित्र के श्रेष्ठतम अंश मिले, जैसे अपने पिता की कर्तव्यपरायणता व ईमानदारी; माता की उदारता, दयालुता व गहरी मनुष्यता; दादी का दृढ़-निश्चय व सहनशीलता तथा पितामह की सादगी, दृढ़ विश्वास व न्यायप्रियता”।

ईश्वरचंद्र की जन्मपत्री बनाकर पितामह ने कहा था कि बालक हठी साँड़ होगा, किंतु उसकी ईमानदारी, सच्चाई व यश की महिमा तो दिग्-दिगंत तक गाई जाएगी।

यद्यपि जिन परिस्थितियों व वातावरण में बालक का जन्म हुआ। उन्हें देखकर लगता तो नहीं था कि ऐसी किसी भविष्यवाणी के सच होने की संभावना बन पाएगी, परंतु देखते-ही-देखते परिस्थितियाँ बदलीं व बालक आगे की शिक्षा पाने के लिए कलकत्ता जा पहुँचा, जहाँ उसके लिए एक नए संसार के द्वार खुले।

प्रारंभिक शिक्षा

बालक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने गाँव की बनी टोल में ही प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण की। उन दिनों वीरसिंह गाँव की चतुष्पदी के गुरुजी सनातन विश्वास थे। निस्देंह उनकी टोल में बच्चों की उपस्थिति तो अधिक थी, किंतु वे अपने उग्र स्वभाव के लिए भी जाने जाते थे। छोटे बच्चों को जिस प्रकार शारीरिक दंड देते थे, उसके चर्चे आसपास के गाँवों तक फैले थे। उनका मानना था कि 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते। दुष्ट व नटखट बच्चों को पढ़ाने के लिए कान उमेठना और छड़ी लगाना आवश्यक है।'

ठाकुरदासजी इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे, इसलिए उन्होंने निर्णय लिया कि वे विद्यासागर को वहाँ पढ़ने नही भेजेंगे। अब समस्या यह थी कि बालक को भेजा कहाँ जाए। गाँव में तो कोई दूसरी पाठशाला थी ही नहीं, फिर उन्होंने कालीकांत चट्टोपाध्याय नामक सज्जन पुरुष को विद्यासागर का शिक्षक नियुक्त किया। उनसे आग्रह किया कि वे गाँव में एक टोल खोल लें। यद्यपि कालीकांतजी ऐसा नहीं करना चाहते थे, किंतु ठाकुरदासजी के बार-बार आग्रह करने पर वे मान गए तथा गाँव में दूसरी पाठशाला खुल गई।

कालीकांत विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। वे भली-भाँति जानते थे कि नन्हे नटखट शैतानों को किस तरह पढ़ाया जाना है। उन्हें छोटे बच्चों को शिक्षा देने की प्रणाली का पूरा ज्ञान था। देखते-ही-देखते उनकी पाठशाला की धाक जम गई। विद्यासागरजी ने पाँच वर्ष की आयु में कालीकांत की टोल में दाखिला लिया। गाँव के अन्य छात्र भी वहीं प्रवेश लेने लगे। कालीकांतजी बच्चों में 'गुरु महाराज' के नाम से प्रसिद्ध हुए। विद्यासागरजी के व्यक्तित्व में कालीकांतजी के संस्कृत आचरण व सभ्य व्यवहार की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

बाल्यावस्था में उचित गुरु का चुनाव भी बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि उस समय नन्हा बालक कच्ची मिट्टी के ढेले के समान होता है, जो किसी भी आकार में ढल सकता है।

पाठशाला तो आरंभ हो गई। औपचारिक शिक्षा भी मिलने लगी, किंतु यहाँ बालक ईश्वर के स्वभाव की भी चर्चा प्रासंगिक होगी। वे पढ़ने-लिखने में तो तीव्र मेधा रखते थे, किंतु बाल-सुलभ उद्‌डंता भी कम न थी। प्रायः गाँववालों को इतना सताते कि वे उनसे विरक्त हो जाते। बाग-बगीचों में फल पक ही नहीं पाते थे, क्योंकि कच्चे फल ही ईश्वर की उद्‌डंता का निशाना बन जाते।

निस्देंह प्रत्येक बालक अपनी बाल्यावस्था में उद्‌डं ही होता है। उसकी शरारतें सबको लुभाती हैं, किंतु ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे व्यक्ति के जीवन से जुड़ी ये घटनाएँ न केवल मन को गुदगुदाती हैं, बल्कि एक विरोधाभास की ओर इंगित करती हैं।

प्रायः हम नन्हे बच्चों के सुखद भविष्य का हवाला देते हुए सुधरने का प्रवचन देते हैं, किंतु क्या बचपन की शरारतों का भावी व्यक्तित्व या चरित्र से कोई प्रत्यक्ष संबंध होता है।

बाद के वर्षों में एक बार ईश्वरचंद्रजी से एक व्यक्ति ने अपने पुत्र की शिकायत की कि वह बहुत शरारती है, तो उन्होंने कहा था-

"मेरे दोस्त! मायूस मत हो। मैं भी बहुत शरारती था। सबकी नाक में दम करता था। अपने पड़ोसियों की सहनशक्ति की परीक्षा लेता था, किंतु उन सारी शैतानियों के बावजूद मैं अपने पैरों पर खड़ा हूँ। मेरा भविष्य उतना अंधकारमय भी नहीं रहा, जितनी उस समय कल्पना कर ली गई थी। हो सकता है, आपके नटखट बच्चे का भविष्य मुझसे भी उज्ज्वल व प्रकाशमान हो।

इस विषय में विनय घोषजी का निम्नलिखित वक्तव्य प्रासंगिक होगा। वे अपनी पुस्तक 'ईश्वरचंद्र विद्यासागर' में लिखते हैं-

"विद्यासागर ने अपनी पहली प्रसिद्ध बँगला पुस्तक 'वर्ण परिचय' के पहले व दूसरे भागों में गोपाल के चरित्र के माध्यम से एक अच्छे व आज्ञाकारी बालक के आदर्श चरित्र का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। उसी कहानी में राखाल नामक बच्चे को एक शैतान बच्चे के रूप में वर्णित किया गया है। उसमें छोटे बच्चों को यही उपदेश दिया गया है कि उन्हें गोपाल के चरित्र का अनुसरण करना चाहिए, न कि राखाल का।"

इसी कहानी पर टीका-टिप्पणी करते हुए रवींद्रनाथ ठाकुर अपने 'विद्यासागर चरित' में कहते हैं-घसीधे-सादे लोगों की हमारी इस वसुंधरा पर गोपाल की भाँति आज्ञाकारी व विनम्र बच्चों की कोई कमी नहीं, परंतु यदि हठी व शैतान बालक राखाल व उसके प्रसिद्ध कथाकार विद्यासागरजी सरीखे और अधिक संख्या में पैदा होने लगें तो रंगलिया के चरित्र से कायरता का धब्बा बिलकुल ही मिट जाता। अच्छे लड़के तो परीक्षाओं में पास हेने के लिए, कर्तव्यशीलता के लिए और शादी-विवाह के बाजार में ऊँचा दहेज दिलाने के लिए ही अच्छे होते हैं; परंतु भविष्य में हमारे देश को आज्ञाकारी गोपाल की अपेक्षा राखाल जैसे अवज्ञाकारी लड़कों की अधिक आवश्यकता है।

ईश्वरचंद्र पढ़ने-लिखने की दृष्टि से राखाल से बिलकुल भिन्न थे। राखाल पढ़ने-लिखने से कन्नी काटता था, जबकि ईश्वरचंद्र पढ़ने में फिसड्डी नहीं थे। कहना तो यह चाहिए कि वे कष्टों से जूझकर भी पढ़ते रहे।

गली मुहल्ले में सूखते कपड़ों पर लकड़ी से मल-मूत्र लगा देना व पड़ोसियों को नाना प्रकार से सताना ईश्वर के प्रिय शगल थे।

वे प्रायः खेतों से जाते-जाते धान के कच्चे दाने यहाँ-वहाँ बिखेर देते। पौधों को पाँव तले कुचल देते। एक बार तो जौ के कच्चे दाने चबाते समय गले में ही अटक गए तो जान के लाले पड़ गए। माता भगवती देवी ने बमुश्किल उन्हें गले से निकाला।

इतना ही नहीं, बालक ईश्वर अपने पड़ोसी मथुरा मोहन मंडल के दरवाजे पर जानबूझकर मल-मूत्र कर देते। घर की बहू को वह गंदगी साफ करनी पड़ती। एक दिन उसने ईश्वर को धमकी दी कि यदि वह अपनी हरकत से बाज नहीं आया तो उसे मास्टरजी व माँ से सजा दिलवाएगी।

तभी घर की मालकिन वहाँ आ गई। उसने अपनी बहू से कहा, “बहू! इस लड़के को मत डाँटो। यह कोई मामूली लड़का नहीं, इसके पितामह ऋषितुल्य थे। मैंने स्वयं उनके मुख से सुना था कि यह एक महान् आत्मा है। तुम इसकी उद्‌डंता पर क्रोधित मत हुआ करो। इसका मल-मूत्र मैं साफ कर दिया करूँगी।”

मील का पत्थर

गुरुमहाराज के कुशल मार्गदर्शन में ईश्वर ने तीन वर्ष में ही अपना पाठ्यक्रम पूरा कर लिया। गाँव में अब आगे शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। कालीकांतजी ने उनके पिता से कहा, "मेरी पाठशाला में ईश्वरचंद्र की पढ़ाई पूरी हो गई। अब इसे उच्च शिक्षा दिलवाने के लिए कलकत्ता ले जाएँ।"

ठाकुरदासजी को सलाह जँच गई वे अपने आठ वर्षीय पुत्र ईश्वर को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिलवाने के लिए कटिबद्ध थे। उनके मन की बात भगवती देवी तक पहुँची तो वे रोने-बिलखने लगीं। उनका नन्हा सा लाडला घर की सुख-सुविधाओं से दूर, माँ के स्नेह की छत्रच्छाया से वंचित रहकर कैसे जी पाएगा? यह प्रश्न बार-बार उन्हें विचलित कर रहा था। उन्होंने दो टूक शब्दों में घोषणा कर दी-"मैं अपने ईश्वर को अपने से अलग नहीं होने दूँगी। यह तो अभी पूरी तरह से अपना ध्यान भी नहीं रख पाता। वहाँ परदेस में इसकी देख-रेख कौन करेगा?च

परिवार के सभी सदस्यों सहित कालीकांतजी ने भगवती देवी को समझाया-बुझाया। पुत्र के उज्ज्वल भविष्य का हवाला दिया तो वे मान गइऔ। पुत्र के प्रति कर्तव्य-पालन के आगे मातृ-स्नेह ने घुटने टेक दिए। माँ से कलकत्ता जाने की अनुमति मिल गई तो जाने का प्रंध होने लगा, किंतु निकलने से कुछ दिन पूर्व ही दादाजी रोगग्रस्त हुए व परलोक सिधार गए। कलकत्ता जाने के कार्यक्रम को कुछ समय के लिए स्थगित करना पड़ा।

ठाकुरदासजी ने पिता रामजय के श्राद्ध-कर्म के पश्चात् पुनः पुत्र की शिक्षा-दीक्षा की ओर ध्यान दिया। यह तय किया गया कि ठाकुरदास व ईश्वर के साथ गुरु महाराज कालीकांत भी कलकत्ता जाएँगे। साथ में एक नौकर को भी ले लिया गया।

उन दिनों यातायात के साधन इतने सुलभ नहीं थे। लोग प्रायः नावों से या पैदल चलकर ही लंबी दूरियाँ तय करते। यह काफिला तड़के ही घर से निकला व साँझ ढलने तक चलता रहा। बालक ईश्वर यूँ तो ग्रामीण अंचल में पला-बढ़ा था, किंतु उसे पड़ोसी गाँवों को भी देखने का अवसर नहीं मिला था। इस प्रकार यह उसके लिए किसी विदेश-यात्रा से कम नहीं था।

रात होने पर वे किसी गाँव में रुक जाते। दिन में बालक ईश्वर उत्साहपूर्वक आगे-आगे चलता, किंतु जब थक जाता तो पिता या नौकर उसको कंधों पर उठा लेते।

गाँवों-देहातों से होते हुए वे लोग सालकिया गाँव को जानेवाली नई सड़क पर पहुँचे। सड़क

पर एक किनारे पत्थर गड़ा था। जिस पर कुछ लिखा भी था। ईश्वर ने पूछा, “बाबा! यह चौरस पत्थर क्या है?”

बाबा ने कहा, “बेटा! इसे मील का पत्थर कहते हैं?”

कुछ दूरी पर चलने के बाद फिर से वैसा पत्थर आ गया तो ईश्वर की जिज्ञासा जाग उठी।

“बाबा! ये तो फिर से वैसा ही पत्थर आ गया।”

“हाँ बेटा, पत्थर तो वैसा ही है, किंतु इस पर दूसरे अंक लिखे हैं।

“मैं समझा नहीं।” बालक ने कहा।

बाबा बोले, “पुत्र, कलकत्ता तक हर मील के अंतर में ऐसे पत्थर लगाए गए हैं। इन्हें देखकर पता लगता है कि उक्त स्थान से कलकत्ता की दूरी कितनी है। मानो अगर यहाँ उन्नीस लिखा है तो इसका अर्थ होगा कि हम कलकत्ता से उन्नीस मील दूर हैं। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाएँगे, मील के पत्थरों पर लिखे अंक घटते जाएँगे, यानी हम कलकत्ता के निकट पहुँच जाएँगे।”

बाबा पूरी रामकहानी कहकर फिर से चलने को हुए, पर तब भी बालक का कौतूहल शांत कहाँ हुआ था। वह बोला, “बाबा! इस पर लिखे अंक कैसे हैं?”

“हाँ बेटा, यहाँ अंग्रेजी में अंक लिखे गए हैं। जैसे यहाँ लिखे हैं। एक और नौ यानी उन्नीस।”

सभी सहयात्री चुपचाप चल दिए, किंतु बालक ने मन-ही-मन सोच लिया कि वह इन्हीं मील के पत्थरों पर देख-देखकर अंग्रेजी अंक लिखना सीख लेगा। इसके बाद तो जैसे उसने चुप्पी ही साध ली।

साथ चले रहे लोगों ने भी थोड़ा चैन की साँस ली; क्योंकि वे नटखट ईश्वर के सवालों का जवाब देते-देते थकने लगे थे। बालक से फुरसत पाते ही वे तीनों देश-काल व समाज की गप्पों में व्यस्त हो गए। उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया कि बालक ईश्वर इतना चुप क्यों है।

इसी तरह बालक ने गुमसुम होकर नौ मील की यात्रा तय कर ली। पिता ठाकुरदास का ध्यान बालक की ओर गया। उन्होंने पूछा-

“पुत्र! तुम इतने चुप क्यों हो? कुछ चाहिए?”

“नही बाबा! मैं तो अंगेजी के अंक सीखने में व्यस्त हूँ।

“अंग्रेजी के अंक...? वे तुमने कहाँ से सीखे?”

“बाबा, इन मील के पत्थरों पर लिखे अंक देखता आया व अपने दिमाग में बिठा लिया।” ईश्वर ने कहा।

बाबा तो पुत्र को मील के पत्थर के विषय में समझाकर भूल ही बैठे थे, किंतु पुत्र ने उसी में से कुछ सीखने का साधन खोज निकाला।

वे विस्मित भाव से पुत्र को निहारते रहे और फिर बोले-

"क्या सचमुच सीख लिया?"

"हाँ बाबा!"

"तो बताओ कि कलकत्ता की यहाँ से कितनी दूरी रह गई?"

तब तक एक और मील का पत्थर सामने था। बालक ने कहा, "सामनेवाले मील के पत्थर पर अंगेजी में दस लिखा है। वहाँ सड़क पर पहले उन्नीस लिखा था, इसका अर्थ हुआ कि हमने नौ मील रास्ता तय कर लिया है।"

ठाकुरदासजी पुत्र की तीव्र मेधा पर आश्चर्यचकित रह गए। इसी बातचीत के दौरान थोड़ा रास्ता और निकल गया, फिर मील का दूसरा पत्थर आया। अब ठाकुरदास का ध्यान ईश्वर की ओर ही था। उन्होंने पुत्र की परीक्षा लेने के विचार से पूछा, "अब बताओ, वहाँ कौन सा अंक लिखा है?"

"नौ।" ईश्वर ने कहा।

फिर अगला पत्थर आने पर बाबा ने पूछा, "वहाँ क्या लिखा है?"

जवाब मिला-घआठ।

इसी तरह वे हर मील के पत्थर के विषय में पूछते रहे और बालक ईश्वर उत्तर देता रहा। फिर उन्हें संदेह हुआ कि कहीं ऐसा तो नहीं कि ईश्वर को अभी अंकों की पक्की पहचान न हो और वह केवल एक-एक घटाकर उत्तर देता आ रहा हो। ईश्वर ने भी जैसे बाबा की परीक्षा में खरा उतरने की ठान ली थी। वह अब भी मनोयोग से अंकों को मन में बिठाता जा रहा था।

पिता ने जान-बूझकर एक-दो मील के पत्थर को यूँ ही निकल जाने दिया, फिर उन्हेंने इस बार पूछा, "यहाँ पत्थर पर क्या लिखा है?"

इस बार भी बालक ने सही उत्तर दिया। अब तो उन्हें, गुरु कालीकांतजी व दरबान को भी विश्वास हो गया कि ईश्वर को अंग्रेजी के अंकों की पहचान हो गई है।

नौकर तो अपने दुलारे ईश्वर की ऐसी बुद्धिमत्ता देख उसे कंधें पर बिठाकर नाचने लगा। गुरु कालीकांत चट्टोपाध्याय बोले, "शाबाश पुत्र! तुमने तो मेरे अध्यापन का मान रख लिया। ईश्वर करे, तुम इसी प्रकार प्रगति के पथ पर अग्रसर होते जाओ।"

पिता ठाकुरदास की आँखों में आनंदाश्रु थे। कालीकांतजी बोले, "ठाकुर महाशय, होनहार विरवान के होत चीकने पात। यह कहावत सच है न।"

कलकत्ता में शिक्षा प्रारंभ

ठाकुरदास अपने मित्र के यहाँ जा पहुँचे। उनके मित्र भगवत चरणसिंह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र जगदुर्लभ सिंह घर के मुखिया थे। उन्होंने ठाकुरदास व उनके पुत्र को सस्नेह आश्रय दिया। वे वहाँ अपनी माँ तथा विधवा बहन रायमणि के साथ रहते थे। रायमणि के रूप में बालक ईश्वर को जैसे अपनी माँ ही मिल गई। बड़े होने पर भी वे प्रायः रायमणि के दिव्य मातृत्व स्वरूप को स्मरण कर विभोर हो जाते। उन्हेंने अपनी आत्मकथा में लिखा- घवे मेरे लिए माँ की भाँति पूजनीय थीं। इस वृद्धावस्था में भी उनके स्नेहपूर्ण व्यवहार को याद करता हूँ, तो मेरा दिल भर जाता है।

नए परिवेश व वातावरण में सहज होने के बाद बालक का यहाँ-वहाँ घूमना स्वाभाविक ही था, किंतु ईश्वर में बालसुलभ संकोच नहीं था। उन्होंने जगदुर्लभ बाबू को रसीद बुक की रसीदों पर क्रमांक डालते देखा तो बोले, “यह कार्य तो मैं भी कर सकता हूँ।”

जगदुर्लभ सिंह बच्चे के मुँह से यह सुनकर दंग रह गए, पूछा, “क्या तुम्हें अंग्रेजी अंकों का ज्ञान है?”

“जी, कलकत्ता आते समय, मील के पत्थरों पर लिखे अंग्रेजी के अंक देख-देखकर ही सीख लिये।”

आठ वर्षीय बालक ने राह चलते-चलते मील के पत्थरों से अंग्रेजी अंकों का ज्ञान पा लिया। यद्यपि जगदुर्लभ सिंह को विश्वास नहीं हुआ, किंतु उन्होंने बालक के आगे रसीद बुक खिसका दी।

“बेटा! जरा इन पर क्रमांक तो लगाना।”

ईश्वर ने निस्कोंच यह कार्य कर दिखाया। कहना न होगा कि पिता व गुरु के चेहरे पर गर्व के भाव छलक आए। जगदुर्लभ बाबू भी जान गए कि उन्होंने कितने प्रतिभाशाली बालक को आश्रय दिया है।

इस घर के वातावरण में ईश्वर को परिवार-जन का स्नेह प्राप्त हुआ। रायमणि देवी को उस बालक से विशेष लगाव था। जब कभी ईश्वर माँ को याद कर उदास हो जाते तो ऐसे में वे ही उन्हें स्नेह देतीं। उनकी ममतामयी छाया में बालक के दिन बीतने लगे। पिता ठाकुरदास बड़ा बाजार में एक दुकान पर उधार वसूली का काम करने लगे व पुत्र को घर के समीप शिवचरण मलिक की पाठशाला में भेज दिया गया। लगभग तीन महीने तक ईश्वर वहाँ

पढ़ने जाते रहे, किंतु अचानक वे बीमार पड़ गए। कलकत्ता में पिता व रायमणि की सेवा भी उन्हें स्वस्थ नहीं कर पाई। माँ भगवती ने पुत्र की अस्वस्थता का समाचार पाया तो स्वयं कलकत्ता जा पहुँची। फिर वे उसे अपने साथ गाँव ले गइऔ। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि कलकत्ता में जो रोग दवाओं से भी ठीक नहें हो रहा था, वह गाँव पहुँचते ही जाने कहाँ छू-मंतर हो गया। संभवतः नन्हे बालक को माँ के साथ की आवश्यकता थी, वह पूरी होते ही बालक ईश्वर स्वस्थ हो गया।

दो महीने बाद वापस कलकत्ता जाने का कार्यक्रम बना। उनकी दूसरी कलकत्ता यात्रा भी काफी रोचक रही। पहली बार तो बालक को कंधे पर बिठाने के लिए नौकर साथ था, किंतु इस बार तो ईश्वर ने स्वयं ही मना कर दिया। वे पिता से बोले कि नौकर को नहीं ले जाते, मैं स्वयं ही पैदल चलूँगा।

राह में पहले ईश्वर की ननिहाल पड़ी। पहली रात पिता-पुत्र ने वहीं बिताई। अगले दिन तय हुआ कि ठाकुरदास अपनी बहन अन्नापूर्णा के गाँव होते हुए जाएँगे, ताकि रोगी बहन से भेंट भी हो जाए। नन्हे ईश्वर के लिए पैदल रास्ता भारी पड़ने लगा। अभी आधा रास्ता शेष था और ईश्वर ने हथियार डाल दिए। थोड़ी ही दूरी पर तरबूज का खेत दिख रहा था। पिता ने मीठे तरबूज खिलाने का वादा किया और ईश्वर किसी-न- किसी तरह खेत तक जा पहुँचे। तरबूज के फलों ने भूख-प्यास तो मिटा दी, पर आगे चलने के लिए पाँवों में जान नहीं थी। बालक बेदम हो रहा था।

पिता ने कुछ देर तक उन्हें कंधे पर बिठाने का प्रयत्न किया, किंतु वे भी दुर्बल जान थे। इतने बड़े बालक को उठाकर नहीं चल सके। उस दिन दोनों ने किसी तरह रास्ता तय किया, फिर उस रात ईश्वर की बुआ के घर विश्राम कर वे अगले दिन कलकत्ता पहुँचे। ईश्वरचंद्र बाद के वर्षों में भी अपनी इस पैदल यात्रा को स्मरण कर हँसा करते थे।

कलकत्ता पहुँचते ही ईश्वरचंद्र को पुनः पाठशाला भेजने का प्रंध होने लगा। यहाँ पहुँचकर एक समस्या आन खड़ी हुई। यह निर्णय लेना कठिन हो रहा था कि ईश्वर की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से हो या संस्कृत के माध्यम से? एक ओर पिता ठाकुरदास पुत्र को झटपट अंगेजी के अंक सीखते देख अंगेजी शिक्षा दिलाना चहाते थे तो दूसरी ओर अपने अधूरे सपनों को पुत्र के माध्यम से पूरा करने का लोभ भी संवरण नहीं कर पा रहे थे। वास्तव में वे संस्कृत की शिक्षा पूरी करने के बाद, परंपरानुसार गाँव में चतुष्पाठी चलाना चाहते थे, किंतु पारिवारिक कारणों से वे ऐसा नहीं कर पाए। अब वे चाहते थे कि पुत्र ईश्वर भी गाँव में संस्कृत पाठशाला चलाने के योग्य हो जाए। वे अपने पुत्र को एक संस्कृत विद्वान् व गाँव की पाठशाला के विनम्र व सुशील अध्यापक के रूप में देखना चाहते थे।

कुछ परिचितों का आग्रह था कि तीव्र मेधा संपन्न ईश्वर को अंग्रेजी शिक्षा दिलवाई जाए, ताकि उसे आगे चलकर कोई अच्छी नौकरी मिल सके।

अंततः मधुसूदन वाचस्पति नामक संबंधी के परामर्श पर पिता ने पुत्र को संस्कृत कॉलेज में

ही भेजने का निर्णय लिया। उन्हें यह परामर्श जँच गया था कि कॉलेज में संस्कृत की शिक्षा तो मिलेगी ही, साथ ही कानून समिति की परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् दीवानी अदालतों में जज पंडित का पद भी मिल जाता है। इस प्रकार ईश्वरचंद्र कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज में भेजे गए।

संस्कृत कॉलेज में प्रवेश

जून 1829 में बालक ईश्वर ने संस्कृत कॉलेज में कदम रखा। कुछ दिन तक पिता स्वयं उन्हें छोड़ने व लेने जाते रहे; किंतु जब उन्हें विश्वास हो गया कि ईश्वर ने सब रास्ते पहचान लिये हैं, तो उन्होंने उसे अकेले जाने की अनुमति दे दी। तत्कालीन संस्कृत कॉलेज का वातावरण लगभग गाँव की परंपरागत टोल जैसा ही था। शिष्य कमरें में बिछी चटाइयों पर बैठते थे। वे कपड़े में अपनी पुस्तकें व पांडुलिपि बाँधकर लाते। हालाँकि अंगेजी भी पढ़ाई जाती थी, चूँकि विषय अनिवार्य नहीं था। अतः अधिकारी व छात्रगण उसके प्रति लगभग उदासीन ही थे। कॉलेज में संस्कृत शिक्षा व्याकरण से ही आरंभ होती थी। व्याकरण की पढ़ाई के पश्चात् अलंकार, स्मृति, वेदांत व न्याय आदि की शिक्षा दी जाती। ईश्वर के लिए प्रारंभ में संस्कृत व्याकरण की पढ़ाई किसी टेढ़ी खीर से कम न थी। उन्हें देर रात तक बैठकर व्याकरण के कठिन नियम कंठस्थ करने पड़ते।

पिता का रवैया भी इस मामले में काफी सख्त था। पढ़ाई के विषय में उन्हें जरा भी ढील सहन नहीं थी। ईश्वर को देर रात तक पढ़ना पड़ता। यदि वह सो जाता तो पिता पढ़ने के लिए उठा देते।

अपने समय में ईश्वर ने व्याकरण के जिस कठिन रूप को कंठस्थ किया, शिक्षा सुधारक के रूप में उन्हेंने उसी को सरल रूप में हृदयंगम करने का बीड़ा उठाया और इसमें सफल रहे। उन्होंने संस्कृत व्याकरण को बांग्ला भाषा के छात्रों के लिए सरल बना दिया। यद्यपि अपने शिक्षा-काल में उन्होंने दिन-रात के कड़े परिश्रम से संस्कृत व्याकरण पर अधिकार पाया था। छह माह पश्चात् ईश्वर ने प्रतिमाह पाँच रुपए की छात्रवृत्ति पाई।

पिता नहीं चाहते थे कि कलकत्ता में किसी भी तरह की बुरी संगति में पड़कर बालक का भविष्य अंधकारमय हो जाए। अतः वे आवश्यकता से अधिक अनुशासन बनाए रखते। वे कॉलेज में पढ़ाए गए पाठ को ज्यों का त्यों सुनते थे और जरा सी भी गलती होने पर दनादन बेंत बरसा देते। कई बार तो नन्हे ईश्वर की चीख-िचल्लाहट से घर के दूसरे लोग भी वहाँ आ जाते। रायमणि देवी ठाकुरदासजी के क्रोध के आगे आ जातीं और उन्हें शांत होने को कहतीं। कहते हैं कि एक बार तो ईश्वर अपने पिता की मार से भयभीत होकर घर से ही भाग गए थे। कॉलेज के क्लर्क ने उन्हें अपने यहाँ शरण दी, फिर खिला-पिलाकर समझाया-बुझाया और घर ले आए। इस घटना के विषय में पता चलने पर जगदुर्लभ बाबू ने भी ठाकुरदासजी को टोका कि बच्चे के साथ इतनी कठोरता से पेश आना ठीक नहें है।

संस्कृत कॉलेज के प्रारंभिक दिन काफी कष्टमय रहे। ईश्वरचंद्र का कद थोड़ा छोटा था और

शरीर के अनुपात में सिर थोड़ा बड़ा दिखता था। सहपाठियों को तो खिल्ली उड़ाने के लिए एक पात्र मिल गया। वे उन्हें 'जसूरे कंइ, कसूरे कंइ' कहकर चिढ़ाते ।

दरअसल, कलकत्ता में जैसोर जिले से 'कई' मछली बिकने के लिए आती थी। उसका शरीर दुबला होता था और शरीर के अनुपात में सिर बड़ा दिखता था। बच्चे उसी मछली का नाम ले-लेकर ईश्वर का उपहास करते। जब ईश्वर रुआँसे होकर कुछ प्रतिवाद करना चाहते तो उनकी जुबान तुतला जाती। वे धारा प्रवाह वाक्य भी नहीं बोल पाते थे। इससे तो सतानेवाले लड़कों का और भी मनोरंजन हो जाता। यद्यपि ईश्वर ने कभी इस विषय में अध्यापकों या पिता से शिकायत नहीं की, अपितु कुछ ही दिनों में पूरी कक्षा उस वामन बालक की प्रतिभा की कायल हो गई।

बेडौल शारीरिक अनुपातवाला वह तोतला लड़का जब संस्कृत व्याकरण के कठिन-से-कठिन प्रश्नों के उत्तर देता तो कक्षा हतप्रभ रह जाती। व्याकरण कक्षा के दूसरे वर्ष में ईश्वर ने अंग्रेजी विषय भी लिया, फिर उन्होंने छह माह बाद उसे छोड़ दिया। बाद में उन्हें अपने इस निर्णय पर अफसोस भी हुआ। उन्हें लगा कि यदि वे उसी समय से अंग्रेजी शिक्षा ले रहे होते तो उन्हें बाद में इतनी मेहनत न करनी पड़ती।

स्वभाव में परिवर्तन

जी हाँ, बालक ईश्वरचंद्र को संस्कृत की पढ़ाई के अलावा घर-गृहस्थी में भी मन रमाना पड़ता था। आर्थिक विपन्नता के कारण सभी सुख-सुविधाओं का अभाव था। आगामी वर्षों में उनके दूसरे भाई भी पिता के पास ही आकर रहने लगे, ताकि वे भी शिक्षा पा सकें। इस प्रकार ईश्वर का कार्य-भार बढ़ता गया। पिता सुबह जल्दी काम पर निकलते, पर रात को देर से लौटते। ईश्वर ही सबके लिए भोजन बनाते, फिर रसोई समेटकर कॉलेज जाते।

घर में दो जून की रोटी का ठिकाना नहीं था। कभी-कभी माछ-मात खाने को मिल जाता, अन्यथा शाक-तरकारी या रात के बचे बासी भोजन से ही काम चलाना पड़ता। जिस आयु में बालक दीन-दुनिया से बेखबर, अपने ही खेल में मग्न रहते हैं, उस आयु में बालक ईश्वर अपने पिता के उत्तरदायित्व घटाने के लिए परिश्रम करता। उन्होंने पिता से कभी नाजायज माँगें नहीं कीं, क्योंकि वे जानते थे कि पिता किस प्रकार उनकी शिक्षा का व्यय वहन कर रहे थे। उनके लिए यह शिक्षा किसी यज्ञ से कम नहें थी, जिसके लिए वे व्यक्तिगत सुखों का बलिदान करने से भी पीछे नहीं हटे।

धीरे-धीरे किशोरावस्था में कदम रखते ईश्वर के व्यवहार में पिता ने एक परिवर्तन लक्षित किया। उनका स्वभाव जिद्दी हो चला था। चाहे उनसे कुछ भी क्यों न कहा जाए, वे अपने मन की ही करते थे। पिता की बात का उलट करना तो मानो उनका स्वभाव हो गया था। पिता किसी जगह साफ-सुथरे वत्र पहनकर जाने को कहते तो वे उस दिन वत्र ही न बदलते। यदि गंगा-स्नान को कहा जाता तो वे साफ शब्दों में स्नान से ही इनकार कर देते।

कुछ समय तक तो पिता ने दूसरी ही नीति अपनाई। उन्हें जो भी कार्य करवाना होता, वे ईश्वर से उससे विपरीत ही कहते। ईश्वर उनके कहे का विपरीत करते और पिता मन-ही-मन संतुष्ट हो जाते, किंतु चतुर ईश्वर के आगे उनकी योजना अधिक समय तक नहीं टिक सकी। ईश्वर पिता के चेहरे के भाव देखकर ही समझ गए कि वे उनसे कोई चाल चल रहे थे। उन्होंने फिर से अपना रुख बदल लिया। अब जब पिता कुछ कहते तो वे वही कर देते। इस बार यह तरकीब अधिक समय तक नहीं चल पाई। पिता ने एक दिन हँसकर कहा, "ईश्वर! सचमुच तू तो निराला है। चाहे जो भी कर लो, तू अपनी टेक नहीं छोड़ता। तू तो पक्का 'घाडकदो' है, यानी एक बार गरदन टेढ़ी हो जाए तो आसानी से सीधी नहीं होती।"

ईश्वर की किशोरावस्था का स्वभाव आगे चलकर उन्हीं के काम भी आया। सभी प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियों के बीच भी अपने समाज-सुधार के प्रयत्नों के साथ डटे रहनेवाले ईश्वरचंद्र किसी से नहीं दबते थे। एक बार जो ठान लेते, उसे पूरा करके ही दम लेते।

चाहे ईश्वर का स्वभाव हठी था, किंतु पिता के सख्त अनुशासन के आगे वे भी कुछ नहीं कर पाते थे। कहते हैं कि एक बार वह अपना संध्या पाठ भूल गए। उनके एक चाचा ने देखा कि जब ईश्वर संध्या करता है तो लगता है कि उसे श्लोक याद नहीं है। वह केवल मन-ही-मन मंत्र बोलने का दिखावा करता है। उन्होंने अपने संदेह की पुष्टि के लिए ईश्वर से कहा, “बेटा मैं तो बीच-बीच में से संध्या-मंत्र भूल गया हूँ। यदि तुम एक बार मेरे सामने दोहरा देते तो मेरा भी भला हो जाता।”

ईश्वर निरुतर हो गए, उन्हें वास्तव में सारे संध्या-मंत्र याद नहीं थे। ठाकुरदासजी तक यह समाचार पहुँचा तो वे कड़ककर बोले, “ठीक है, जब तक संध्या कंठस्थ नहीं कर लेता, इसको भोजन नहीं मिलेगा।”

ईश्वरचंद्र तक्षण पुस्तक खोलकर बैठ गए। सभी संध्या-मंत्र याद करके सुनाए। तब कहीं जाकर इस प्रंग की इतिश्री हुई।

ईश्वर का स्वभाव

ईश्वरचंद्र ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे थे तो देश-काल, समाज व वातावरण के प्रति बोध बढ़ रहा था। अब वे हर बात का उत्तरदायित्व लेकर उसे निभाना सीख रहे थे। उनके जीवन के कुछ ऐसे ही प्रंग सुनने को मिलते हैं, जो दरशाते हैं कि बालक ईश्वर का व्यक्तित्व 'दया के सागर' के रूप में कैसे विकसित हुआ।

एक लेखक के अनुसार, "ईश्वर ही पिता व भाइयों का भोजन तैयार करते थे।" अँधेरी व सीलन भरी कोठरी में प्रायः तिलचट्टों व कीड़े-मकोड़ों का उत्पात मचा रहता। ईश्वर भरसक साफ-सफाई का प्रयत्न भी करते, किंतु तिलचट्टे कम नहीं होते।

"घर में निर्धनता का साम्राज्य था।" जो भी खाना पकता, उसे पिता-पुत्र प्रभु का प्रसाद मानकर ग्रहण कर लेते। एक दिन ईश्वर ने खाना परोसते हुए देखा कि सब्जी के बरतन में तिलचट्टा था। अब भारी धर्म-संकट सामने आ गया। यदि वह उसे नाली के पास गिराते या सब्जी से निकालते तो सबकी नजर उस पर पड़ जाती तो वे भोजन न खा पाते। यदि उस दिन का भोजन फेंका जाता तो सभी को उपवास करना पड़ता। ईश्वर ने मन को कड़ा किया व तिलचट्टे को अपनी थाली में इस तरह परोस लिया कि किसी की नजर न पड़े, फिर वे उसे चुपचाप निगल गए। अपने पिता व भाइयों की क्षुधा शांत करने का इससे बेहतर उपाय उनके पास नहीं था। जब उन्होंने बाद में यह घटना सबको बताई तो पिता अपने पुत्र की सोच पर निहाल हो गए और मन-ही-मन उसकी तत्काल बुद्धि पर प्रसन्न भी हुए।"

कलकत्ता में रहने पर भी ईश्वर की सादगी में कोई अंतर नहीं आया था। कह सकते हैं कि शहर की हवा तो उन्हें छू तक नहीं गई थी। जिस आयु में किशोर जीवन की वास्तविकताओं व यथार्थ को भुलाकर सपनों की ही दुनिया में विचरते हैं, ईश्वर उस आयु में लोगों का दुख-दर्द बाँटने लगे थे। यद्यपि अपने पास सुख-सुविधाओं का अभाव था, किंतु वे सदा दूसरों की सेवा व सहायता करने को तत्पर रहते।

यदि कॉलेज में किसी सहपाठी को कोई जरूरत होती तो वह रुपए उधार लेकर भी उसकी सहायता करते। प्रतिवर्ष कॉलेज से पुरस्कार व छात्रवृत्ति की राशि मिलती रहती थी। पिता को यथासंभव सहायता देने के बाद वे अपने रुपयों का किसी तरह सदुपयोग करते। यदि कोई बीमार पड़ता तो एक स्नेही मित्र की भाँति उसकी सेवा करते, उसके पथ्य का प्रंध करते। यहाँ तक कि संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति की देख-रेख में भी संकोच नहीं करते।

जब भी गाँव जाने का अवसर मिलता तो वे स्वयं सभी परिचितों से भेंट करते। अपने गुरुजन को प्रणाम करते। गुरु अपने इस सुयोग्य शिष्य की प्रतिभा व विद्वत्ता को देख

गौरवान्वित हो जाते। बाद के वर्षों में जब छोटे भाई भी उन्हें के पास रहने लगे तो ईश्वर का काम काफी बढ़ गया। बाजार से साग-तरकारी लाना, मसाला पीसना, दोनों वक्त का भोजन पकाना, बरतन आदि साफ करना, सभी कार्य वे स्वयं ही करते। ऐसे में पढ़ने-लिखने के लिए कम समय बचता। अतः वे रात के भोजन के बाद दो घंटे की नींद ले लेते और फिर रात को जगकर सुबह तक पढ़ाई करते।

एक बार उनके भाई दीनबंधु ने आग्रह किया कि वे घर का काम निपटा लें, मैं बाजार से तरकारी ले आऊँगा। दीनबंधु वहाँ का रास्ता भूल गया और भटकते-भटकते रात के दस बजे घर पहुँचा। यहाँ ईश्वर का तो चिंता के मारे बुरा हाल था। वे इतने बड़े कलकत्ता शहर में भाई को खोजते भी तो कहाँ। जब रात को दीनबंधु घर आया तो उन्होंने चैन की साँस ली। वे बोले, “अब से तुम्हें कहीं नहीं जाना होगा। मैं स्वयं ही बाजार-घर का काम भी देख लूँगा।”

संस्कृत कॉलेज में

संस्कृतकॉलेज में विषयों के अनुसार शिक्षा प्रदान करने के लिए कई श्रेणियाँ थीं। यह तो हम बता ही चुके हैं कि ईश्वर ने कुछ ही माह में कक्षा में अपनी विद्वत्ता की धाक जमा ली और पहले ही छह माह में उन्हें छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। गंगाधर तर्कवागीशजी उनके अध्यापक थे। उनके अतिरिक्त कॉलेज में अन्य प्रोफेसर व अध्यापक भी अपने समय के बड़े विद्वान् थे। जिन्हें कॉलेज की स्थापना के समय प्रोफेसर विल्सन द्वारा चुना गया था।

गंगाधरजी ने कुछ ही दिन में अपने इस विलक्षण छात्र की प्रतिभा का अनुमान लगा लिया। वे स्वयं एक अद्वितीय रचनाकर थे। लोग उन्हें बहुत आदर भाव देते थे। ऐसा अध्यापक पाकर ईश्वर ने स्वयं को गर्वित अनुभव किया। कॉलेज के दैनिक पाठ्यक्रम समाप्त कर वे छात्रों को उद्भट के श्लोक भी याद करवाते थे। प्रतिदिन एक श्लोक याद कर उसकी व्याख्या लिखने को कहा जाता। इस प्रकार सभी विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त सभी उद्भट श्लोक भी सीख जाते।

ईश्वर का कड़ा परिश्रम रंग लाया। उन्होंने वार्षिक परीक्षाओ में पुरस्कार पाए। पुरस्कार के रूप में मुक्तबोध व्याकरण पुस्तक, अमरकोष, मुद्रा-राक्षस आदि पुस्तकें पाकर वे फूले नहीं समाए। तीसरी कक्षा में उनसे मंदबुद्धि छात्र को पुरस्कार मिला था। ईश्वर का मन विरक्त हो गया। उस छात्र को केवल इसी आधार पर प्रथम पुरस्कार दिया गया था कि कॉलेज के एक उच्च

अधिकारी का संबंधी था। एक-दो अध्यापकों ने इसके विरुद्ध आवाज भी उठाई, किंतु उसे दबा दिया गया। ईश्वर ने विरोध सहना भला कहाँ सीखा था। उन्होंने कॉलेज छोड़ने का निर्णय ले लिया, फिर पिता व गुरुजन के समझाने-बुझाने पर उन्होंने दोबारा कॉलेज जाने की हामी भरी।

इसके बाद उन्होंने साहित्य की कक्षा में प्रवेश लिया। साहित्य के अध्यापक जयगोपाल तर्कालंकारजी अपने छात्रों के साथ साहित्य के रसमयी लोक में जीभरकर डुबकियाँ लगाते। सभी छात्र भाव-विभोर हो जाते। ईश्वर को भी उन्हें से अध्यापन का सौभाग्य मिला। उन दिनों ईश्वर को पाँच रुपए की मासिक छात्रवृत्ति मिलती थी। वे उसे पिता के पास रखवा देते। पिता ने भी संकल्प लिया था कि पुत्र के इन रुपयों का सार्थक सदुपयोग ही करेंगे।” अतः उन्होंने अपने गाँव के पास ही कई एकड़ जमीन खरीद ली। जो रुपए बचे, उन्हें ईश्वर को देकर कहा, “इन रुपयों से संस्कृत की पुस्तकें ले लो। इनसे बड़ा मित्र कोई नहीं होता।”

ईश्वर भी पिता की बात से सहमत थे। उन्होंने कुछ काम में आने वाली दुर्लभ पुस्तकें

खरीद लीं। इस तरह उनका एक छोटा सा पुस्तक संग्रह हो गया, जो आगे चलकर निजी पुस्तकालयों में बदल गया। यदि आज के किसी छात्र को ऐसी छात्रवृत्ति अथवा नकद पुरस्कार मिला होता तो वह उसे पिता को सौंपता या अपने मनोरंजन व खान-पान पर खर्च करता। यह निर्णय मैं पाठकगण पर ही छोड़ती हूँ।

किशोरवय में निर्धन, अभावग्रस्त की सहायता करनेवाले व पिता की आर्थिक तंगी में सहारा देनेवाले ईश्वर को अपने लिए उन रुपयों का जरा भी मोह नहीं था। हाँ, पुस्तकें खरीद लेने से इतनी सहायता अवश्य हुई कि उन्हें संदर्भ पुस्तकों के लिए भटकना नहीं पड़ता था। संस्कृत पर असाधारण अधिकार हो चला था। अतः वे मौलिक रूप से गद्य व पद्य लिखने की चेष्टा करते। यद्यपि वे प्रयास अभी शैशवकाल में ही थे।

प्रतिभा प्रस्फुटन

ईश्वरका संस्कृत के प्रति अगाध पेम वास्तव में सराहनीय था। उन्होंने संस्कृत साहित्य का भी विशद अध्ययन किया। व्याकरण शात्र में पारंगत होने के बाद वे अलंकार वर्ग में गए। उस समय प्रेमचंद्र तर्कवागीशजी कक्षा में पढ़ाते थे, किंतु ईश्वर में संस्कृत व्यसन की पूर्ति के लिए इतना पर्याप्त न था। अतः वे अन्य विद्वानों के पास भी जाते। इनमें प्रमुख रूप से मधुसूदन वाचस्पति, तारानाथ तर्कवाचस्पति व ताराकांत तर्कशात्री का नाम ले सकते हैं। ये तीनों विद्वान् संस्कृत की एक स्वतंत्र पाठशाला चलाते थे। अध्ययन-प्रेमी ईश्वर को इनसे विविध विषय पढ़ने का अवसर मिलता, इसलिए वे अवश्य वहाँ जाने का समय निकाल लेते।

उन दिनों संस्कृत साहित्य दर्पण का अध्ययन हो रहा था। वहाँ प्रख्यात विद्वान् तर्कपंचाननजी जा पहुँचे। उन्होंने ईश्वर को साहित्य दर्पण का अध्ययन करते देखकर पूछा-

“अच्छा यह बालक, ‘साहित्य दर्पण’ की सार-समझ भी रखता है।” मधुसूदन वाचस्पति बोले, “पुत्र ईश्वर! इन्हें संस्कृत साहित्य दर्पण का सार तत्त्व बता दो।”

फिर तो ईश्वर की धाराप्रवाह संस्कृत व्याख्या व उच्चारण ने पंचाननजी को भी आश्चर्य में डाल दिया। वे अपने सामने व आनेवाले समय के एक महान् संस्कृत विद्वान् को देख रहे थे। बहुत देर तक ईश्वर को स्नेह तथा विस्मय से देखने के बाद बोले, “इतनी अल्पायु में संस्कृत की ऐसी विद्वत्ता वास्तव में एक आश्चर्य है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, बालक!”

ईश्वर ने विनम्रतापूर्वक आशीर्वाद ग्रहण किया और वहाँ से चले आए। मानो इतने बड़े विद्वान् का उनकी प्रशंसा करना कोई बड़ी बात न हो। अहंकार तो उन्हें लेश मात्र भी नहीं छू गया था।

इस घटना के बाद ही एक ऐसी घटना घटी, जिसने ईश्वर को आजीवन एक प्रण लेने की प्रेरणा दी।

हुआ यूँ कि ‘साहित्य दर्पण’ पर प्रेमचंद तर्कवागीश ने एक टीका लिखी थी। वे प्रायः उसे कक्षा में पढ़ाते थे, इसलिए वह वहीं रखी रहती। कुछ दिन बाद छात्रों ने इसके पन्ने निकालकर घर ले जाने शुरू कर दिए। पढ़ना-पढ़ाना तो क्या था, बस एक-दूसरे की देखा-देखी टीका के पन्ने निकालकर ले जाते, फिर उन्हें सही जगह पर न रखते। दो-तीन बार पढ़ाते समय कुछ पन्ने गायब मिले ते प्रेमचंदजी ने कक्षा में सबको कहा, “आज के बाद कोई

भी इस पुस्तक के पन्ने घर नहीं ले जाएगा।”

भाग्य की बात देखिए कि उसी दिन ईश्वर ने मन-ही-मन तय किया कि वह एक दिन के लिए टीका के कुछ पृष्ठ घर ले जाएँगे व रातोरात अध्ययन कर सुबह वापिस सुरक्षित रख देंगे। उसी समय अध्यापक ने टोक भी दिया। उस दिन दोपहर को अध्यापक महोदय जल्दी चले गए। ईश्वर ने रात भर पन्ने घर रखने का विचार छोड़ा तथा तय किया कि दोपहर को पन्ने घर ले जाएँगे तथा कुछ घंटे लगातार पढ़ाई करके उन्हें शाम तक वापस ले आएँगे।

दोपहर को वे घर के लिए निकले तो कुछ पन्ने निकाल लिये। उन दिनों छात्र हाथ में पुस्तक व कॉपी आदि लेकर चलते थे। भाग्य की मार ऐसी पड़ी कि ईश्वर सामान सहित कीचड़-पानी में जा गिरे। कपड़े तो भीगे ही, साथ ही टीका के पन्ने भी भीग गए। वे दौड़कर सामने भड़भूजे की दुकान में घुस गए। गीले वत्र उताकर चूल्हे के एक कोने में सूखने डाले व टीका के पन्ने भी फैलाने लगे, ताकि जल्दी से सूख जाएँ। अचानक उसी ओर से प्रेमचंद्रजी आ निकले। भड़भूजे की दुकान पर ईश्वर को देख, उनका रुकना स्वाभाविक ही था। इससे पहले कि वे कुछ पूछते, वहाँ सूखते सामान व टीका के पन्ने देख बहुत कुछ समझ गए, परंतु उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा।

ईश्वर ने लज्जित स्वर में कहा, “गुरुजी! यह देखिए! आपकी आज्ञा के उल्लंघन का फल!”

प्रेमचंद्रजी बोले, “कोई बात नहीं, लो मेरी चादर से शरीर ढाँप लो।”

ईश्वर ने गुरुजी की चादर लेने से मना कर दिया। प्रेमचंद्रजी घोड़ागाड़ी में उन्हें अपने घर ले गए व उनके कपड़े सुखाने की व्यवस्था की। वे जानते थे कि ईश्वर एक मेधावी छात्र है व टीका के पृष्ठ साथ ले जाने के पीछे उसका क्या उद्देश्य रहा होगा।

अगले दिन उन्होंने स्वयं पूरी टीका ईश्वर के हाथ पर रखकर कहा, “तुम इसे घर ले जाकर विस्तार से पढ़ो। यदि तुम जैसे छात्र ही इसका लाभ न ले सकें तो इसका लिखा जाना व्यर्थ है।”

ईश्वर ने उन्हें धन्यवाद दिया व सारी कक्षा के सामने अपनी भूल दोहराते हुए पश्चात्ताप किया कि आजीवन किसी भी गुरुजन की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे। इस प्रकार तीव्र मेधा संपन्न ईश्वर ने अलंकार की परीक्षा में भी सर्वेच्च स्थान पाया। इसके बाद वे वेदांत का अध्ययन करने लगे।

वेदांतशात्री बनने के बाद उन्होंने स्मृतिशात्र का अध्ययन प्रारंभ किया। उन्होंने इस श्रेणी में मनुंहिता, मिताक्षरा, दायभाग, दंडक चंद्रिका, दंडक मीमांसा व दायक्रम संग्रह आदि संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया।

यहाँ भी स्मृति शात्र के अध्ययन में कक्षा के अध्ययन से पूर्ति न हुई तो ईश्वर को बाहर के विद्वान् का सहारा लेना पड़ा। वह केवल किताबें रट लेना ही काफी नहीं मानते थे। उनका

मानना था कि कोई भी विद्या तभी काम आती है, जब विद्यार्थी उसका सार-तत्त्व ग्रहण कर ले।

ईश्वरचंद्र प्रायः संस्कृत की गद्य व पद्य रचना करने से कतराते थे। ऐसा नहीं कि उन्हें यह कला नहीं आती थी। वस्तुतः वे इसमें रुचि ही नहीं लेते थे। कहते हैं कि कक्षा में प्रायः निबंध रचना के दौरान वह अनुपस्थित रहते।

सन् 1839 में एक नया नियम बना। इसके अनुसार वेदांत व न्याय के लिए गद्य व पद्य की संस्कृत रचना अनिवार्य कर दी गई थी। अब तो ईश्वर की बन आई। दोनों विषयों की परीक्षा एक ही दिन थी तथा सर्वश्रेष्ठ रचनाओं पर सौ-सौ रुपए के पुरस्कार भी घोषित किए गए थे। परीक्षा के दिन ईश्वर को परीक्षा देने का मन ही नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि बिना किसी तैयारी के परीक्षा देने से क्या लाभ। गुरु प्रेमचंद्रजी के बार-बार कहने पर वे परीक्षा कक्षा में बैठे। परीक्षा आरंभ हुए एक घंटा बीत चुका था। ईश्वर को कुछ समझ नहीं आ रहा था कि क्या करे। विषय था, 'सत्य कथन की महिमा'। इस विषय में गद्य रचना करनी थी।

कुछ देर बाद पेमचंदजी आए तो ईश्वर को हाथ पर हाथ रखे बैठे देखा। वे बोले, "प्रभु भी उनकी सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं। 'सत्यं हि नाम... से रचना प्रारंभ करो। तुम लिख सकते हो।"

ईश्वरचंद्र ने अध्यापक का प्रोत्साहन पाकर लिखना आरंभ किया। उनकी गद्य रचना का कुछ अंश पाठकों के लिए प्रस्तुत है-

सत्यं हि नाम मानवस्य साधारणजन विश्वनीयता प्रतिपादकं।

विश्वसनीयता याश्चकलभिह बहुतरभुयलभ्यते तथाहि यदि कस्यचित् कथंचन सत्यकथरदर्शनेन। साधारणसमीपे विश्वसनीयता भवति हि तस्य क्रमशो नयूपति-विश्वासभाजनता समुम्भूताचांच तस्यां किं नाम नरस्य दुखायभव निष्ठत?

धर्मशात्राधायी

ईश्वरचंद्र शर्म्भवः।

इस गद्य-रचना से पूर्णतः असंतुष्ट ईश्वर परीक्षा भवन से बाहर निकले, किंतु परिणाम घोषित होने पर उन्हें भी आश्चर्यचकित होना पड़ा। उन्हीं की रचना को सौ रुपए का नकद पुरस्कार मिला था। वह स्वयं भी अपने भीतर छिपी इस विद्वत्ता से अनजान थे। इस घटना ने उन्हें आगे भी गद्य-रचना की पेरणा दी।

समस्यापूर्ति : गोपालाय नमोऽस्तु मे

यशोदानन्दकन्दाय नीलोत्पलदलश्रिये।
नन्दगोपालबालायगोपालाय नमोऽस्तु मे।। (1)

धेनुरक्षणदक्षाय कालिन्दीकूलचरिने।
वेनुवादनशीलाय गोपालाय नमोऽस्तु मे।। (2)

धृतपीत दुकूलाय वनमालविलासिने।
गोपास्वीप्रेमलीलाय गोपालाय नमोऽस्तु मे।। (3)

वृष्ठिवंशाक्तंसाय कंसध्वंससविधायिने।
दैतेयकुलकालाय गोपालाय नमोऽस्तु मे।। (4)

नवनीतैकचौराय चतुर्वैगैक दायिने।
जगद् भाण्डुकुलालाय गोपालय नमोऽस्तु मे।। (5)

ईश्वरचंद्र विद्यासागर के पास विद्या का अप्रतिम व अखंड भंडार था। वे माँ सरस्वती के वरद पुत्र थे, किंतु कहते हैं कि कभी-कभी व्यक्ति को स्वयं अपनी ही प्रतिभा व क्षमता का पूर्ण परिचय नहीं मिल पाता। ऐसे में किसी योग्य गुरु का मार्गदर्शन मिल जाए तो प्रमुख प्रतिभा भी उजागर हो जाती है।

पाठकों ने देखा कि किस तरह ईश्वरचंद्रजी ने संस्कृत में गद्य रचना कर गुरुजन का आशीर्वाद पाया, यद्यपि वे उस रचना के विषय में कतई आश्वस्त नहीं थे।

पद्य रचना के लिए भी ऐसा ही एक माध्यम बना। अध्यापक जयगोपाल तर्कालंकारजी उन्हें साहित्य शात्र पढ़ाते थे। वे सभी छात्रों को प्रायः पद्य रचना के लिए प्रोत्साहित करते, किंतु ईश्वरचंद्र उनकी बात को सुनकर भी अनसुना कर देते ।

जब ईश्वर को संस्कृत की गद्य रचना में पुरस्कार मिला तो वे बोले, “गद्य रचना में

पुरस्कार पाकर भी तुम्हें अपनी विद्वत्ता व ज्ञान पर विश्वास नहीं होता। आज तुम्हारा एक भी तर्क नहीं सुना जाएगा। चुपचाप संस्कृत में पद्य-रचना करके दिखाओ।" सभी छात्रों को एक घंटे का समय दिया गया।

एक समस्यापूर्ति दी गई थी। अध्यापक महोदय ने ही उसका चौथा चरण दिया था-
गोपालाय नमोऽस्तु मे।

ईश्वरचंद्रजी ने उनसे पूछा, "गोपाल के तो अनेक रूप हैं। यदि देखा जाए तो आप भी गोपाल हैं। आप बताएँ कि हमें किस गोपाल का वर्णन करना है।"

अध्यापक महोदय हँसकर बोले, "लीलाधारी गोपाल का वर्णन करो, वे तुम्हारे सहायक होंगे।

तब ईश्वरचंद्र ने वे श्लोक रचे, जो इस अध्याय के आरंभ में दिए गए हैं। कहना न होगा कि इन श्लोकों की रचना ने उन्हें पद्य रचना में भी सिद्धहस्त घोषित कर दिया।

संस्कृत विद्वान् की ख्याति तथा विवाह

शीघ्र ही ईश्वरचंद्र विद्यासागर की प्रतिभा तथा विद्वत्ता की सुंध चारों ओर फैलने लगी। कॉलेज में प्राध्यापक भी उनके बौद्धिक तर्कों व संस्कृत श्लोकों की व्यवस्था सुन दंग रह जाते। इस प्रकार वह किशोर ईश्वर को अपने समकक्ष मानकर आदर देते, किंतु ईश्वर को जितनी ख्याति मिलती, उतना ही वह किसी फलदायी वृक्ष की भाँति विनम्रता से ही झुकते चले जाते।

उन दिनों प्रायः विवाह, मृत्यु-भोज, यज्ञोपवीत व मुंडन संस्कार आदि अवसरों पर संस्कृत भाषा में निमंत्रण-पत्र भेजे जाते थे। इन निमंत्रण-पत्रों को काव्यात्मक शैली में लिखना भी प्रचलित था। यही कारण था कि समाज में संस्कृत विद्वानों का आदर था। संस्कृत के विद्वान् को परखने व सराहनेवालों की भी कमी नहीं थी। ईश्वर भी ऐसे आग्रहों को टाल नहीं पाते थे। वह तत्काल नए श्लोकों की रचना कर निमंत्रण-पत्र तैयार कर देते।

शीघ्र ही समाचार उनके गाँव तक भी जा पहुँचा। एक बार वे गाँव गए तो किसी परिचित के यहाँ श्राद्धकर्म होना था। उन्होंने उसके आग्रह पर निमंत्रण-पत्र तैयार कर दिया।

अनेक विद्वानों ने निमंत्रण में रचे गए सारगर्भित श्लोकों की प्रांसा की व स्वाभाविक रूप से जानना चाहा कि उन्हें किसने रचा है। जब उनका परिचय किशोर ईश्वर से कराया गया तो वे हतप्रभ रह गए। उन्हें तो लग रहा था कि वह किसी प्रौढ़ तथा परिपक्व मस्तिष्क की रचना है। उन्होंने अपने संदेह की पुष्टि के लिए ईश्वर पर प्रश्नों की वर्षा कर दी। किशोर ईश्वर ने निःसंकोच सभी प्रश्नों का शात्रीय पद्धति से प्रत्युत्तर दिया। यद्यपि वह शात्रार्थ का उचित अवसर नहीं था, किंतु न चाहने पर भी ऐसा वातावरण बन गया। थोड़ी ही देर में वहाँ उपस्थित विद्वान् मौन हो गए। उनके संदेह का निराकरण हो गया था। वे जान चुके थे कि वे सभी एक ऐसे प्रकांड ज्ञानी किशोर के सम्मुख बैठे हैं, जो आनेवाले समय में शात्रों का उद्भट विद्वान् होगा।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर का यश माँ के लिए गौरव का विषय था। उसी भोज में तत्कालीन विद्वान् राममोहन तर्कसिद्धांत भी उपस्थित थे। उन्होंने भी ईश्वर के अभिनव प्रयास को सराहा व उनके साथ तर्कशात्र पर शात्रार्थ करने लगे, किंतु उनका भी वही हाल हुआ, उन्हें भी ईश्वर के आगे घुटने टेकने पड़े। गाँव में यह समाचार फैलते देर न लगी। ठाकुरदास दौड़े-दौड़े आए व उनसे क्षमा माँगने लगे। उन्हें लग रहा था कि ईश्वर ने इतने बड़े विद्वान् के सामने बोलकर धृष्टता की है, किंतु विद्वान् कभी अहंकार नहीं करते। उन्होंने सहज भाव से ठाकुरदास के सम्मुख स्वीकारा कि उनका पुत्र एक अनमोल हीरा है, उसकी विद्वत्ता

अप्रतिम है। उन दिनों प्रायः अल्पायु में ही विवाह होते थे। ईश्वर की असाधारण प्रतिभा, तर्कशक्ति, संस्कृत में प्रवीणता व शील की चर्चा आसपास के गाँवों तक जा पहुँची; उनके लिए विवाह के प्रस्ताव आने लगे।

क्षिरपई के एक ब्राह्मण शत्रुघ्न भट्टाचार्य की सुपुत्री दीनमयी देवी से उनका विवाह संबंध निश्चित हो गया। ब्राह्मण महाशय ने ठाकुरदास से कहा, “बंद्योपाध्यायजी! में किसी धन-संपदा के लोभ में अपनी पुत्री ईश्वर को नहीं दे रहा। आपके पुत्र की असाधारण विद्वत्ता व प्रतिभा ने मुझे प्रभावित कर दिया।

इस प्रकार अल्पायु में ही ईश्वरचंद्र विवाह-बंधन में बँध गए। यद्यपि पहले-पहल ईश्वर इस विवाह-संबंध के पक्ष में नहीं थे, किंतु माता-पिता के प्रति आदरभाव के कारण वे अधिक प्रतिरोध नहीं कर सके। उन्होंने अल्पायु में हुए इस विवाह को भलीभाँति निभाया। दीनमयी देवी भी उदार व धार्मिक स्वभाव की महिला थीं। उन्होंने हमेशा पति के समाज-सुधार के कार्य़ों में सहयोग दिया और आनेवाले वर्ष़ों में उनकी आदर्श सहधर्मिणी सिद्ध हुइऔ।

सहपाठी का विश्वासघात

इस जीवन-रूपी यात्रा में अनेक बार ऐसे सहयात्री भी मिल जाते हैं, जो अपने कपट व स्वार्थ द्वारा हमें धोखा दे जाते हैं। बात चाहे आज की हो या वर्षों पुरानी, ऐसे कपटी साथी भुलाए नहीं भूलते। कई बार कथित हृदय पर ऐसी चोट दे जाते हैं, जिसके निशानों को समय भी नहीं भर पाता। ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी को भी ऐसे ही एक विश्वासघाती सहपाठी से दो-चार होना पड़ा था, किंतु क्या वे सदा उस अपमान व विश्वास-भंग की पीड़ा को लिये डोलते रहे। नहीं, जीवन में आगे बढ़ना हो तो ऐसी अरुचिकर व अप्रिय घटनाओं को पीछे छोड़ना ही पड़ता है। यदि वहीं के वहीं इनका हिसाब बराबर कर दिया जाए, पाठ तथा घटना को भुला दिया जाए, तभी व्यक्ति की सोच स्वस्थ व संतुलित रह पाती है।

ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी ने स्वस्थ प्रतियोगिता का आश्रय लेकर उस युवक से हिसाब बराबर किया। हुआ यूँ कि कॉलेज में श्लोक रचना के पश्चात् वे छात्रों के बीच काफी लोकप्रिय हो गए थे। कुछ समय बाद कॉलेज में घोषणा हुई कि कोई जॉन मेयर साहब 'परमेश्वर की महिमा' पर सौ स्वरचित श्लोक चाहते हैं। जिस छात्र के श्लोक पसंद आएँगे, उसे पचास रुपए का नकद पुरस्कार भी मिलेगा।

इस घोषणा के विषय में किसी ने अधिक उत्साह नहीं दिखाया। इसलिए छात्र इस ओर प्रवृत्त ही नहीं हुए, किंतु दिगंबर नामक छात्र ने कोई सोच-विचार किए बिना श्लोक रच डाले और भेज दिए। जब उसे पचास रुपए का नकद पुरस्कार मिला तो सभी छात्र हतप्रभ हो उठे। अब उन्हें अपने निर्णय पर पछतावा होने लगा, किंतु हो भी क्या सकता था, चिड़िया तो खेत चुग चुकी थी।

कुछ ही दिन बाद पुनः घोषणा हुई, "पदार्थ विज्ञान के विषय में सौ श्लोक रचनेवाले को जॉन मेयर साहब की ओर से नकद पुरस्कार प्रदान किया जाएगा।"

इस बार तो पुरस्कार के विषय में किसी को कोई संदेह ही नहीं था। सभी छात्रों में इस विषय पर लिखने की होड़ लगी थी। ईश्वरचंद्र उस समय काफी व्यस्त थे। अध्यापक ने उनसे भी श्लोक लिखने को कहा, किंतु उनके पास समय न था। एक दिन एक मित्र ने पूछा, "क्या तुम पदार्थ विज्ञान पर श्लेक लिख रहे हो?"

"नहीं मैं नहीं लिख पाऊँगा। हमारे अध्यापक महोदयजी बार-बार दबाव डाल रहे हैं। यदि वे न माने तो शायद लिखना ही पड़ेगा।"

ईश्वरचंद्रजी का उत्तर सुनकर उनके मित्र ने प्रस्ताव रखा कि उन दोनों को आधे-आधे श्लोक लिखकर किसी एक के नाम से जमा करवा देने चाहिए, फिर यदि पुरस्कार मिला तो वे उसे आधा-आधा बाँट लेंगे।

ईश्वरचंद्रजी ने व्यस्तता का हवाला देकर मना करना चाहा, किंतु मित्र के अधिक आग्रह को देखते हुए उन्होंने हामी भर दी व अपनी व्यस्त दिनचर्या के बीच से समय निकालकर अपने हिस्से के श्लेक लिखते रहे।

श्लोक जमा कराने की तिथि से कुछ दिन पहले उस मित्र ने आकर कहा कि वह किसी कारणवश श्लोक नहीं लिख सका। यदि ईश्वर ही सारे श्लोक लिख दे तो ठीक रहेगा।

उन्होंने कहा, "अब इतना कम समय रह गया है कि इस विषय में कुछ नहीं हो सकता, मैं अपने लिखे पचास श्लोक भी फाड़ देता हूँ।"

उन्होंने तो उस युवक के सामने ही अपने श्लोक फाड़ दिए, किंतु जब उस युवक ने निर्धारित तिथि पर अपने पूरे श्लोक जमा करवाए तो वे यह देखकर हतप्रभ रह गए। अब उन्हें समझ आया कि उन्हें श्लोक प्रतियोगिता से पूरी तरह विरक्त करने के लिए यह चाल चली गई थी। यदि वे स्तंत्र रूप से सौ श्लोक रचते तो निश्चित रूप से वे ही पुरस्कार पाते।

उस मित्र ने पचास श्लोकों की रचना वाली चाल चलकर उस संभावना को ही नष्ट कर दिया और स्वयं बड़े ठाट से पुरस्कार जीता।

कहना न होगा कि वह उस पुरस्कार का वास्तविक दावेदार नहीं था। यदि ईश्वर ने स्वतंत्र रूप से अपने श्लोक दिए होते तो फिर उनके सामने उसके श्लोकों को कोई न पूछता। ईश्वरचंद्र इस घटना से व्यथित अवश्य हुए, किंतु शीघ ही इस छल का बदला लेने का अवसर भी मिल गया।

अगली बार मेयर साहब ने 'भूगोल' विषय पर श्लोक रचने की प्रतियोगिता आयोजित की। इस बार ईश्वरचंद्र ने प्रतियोगिता में भाग लिया व प्रथम पुरस्कार भी पाया। यद्यपि उस युवक ने भी अपने श्लोक जमा करवाए थे, किंतु उन्हें किसी ने नहीं सराहा।

इस प्रकार ईश्वर ने मुख से एक भी शब्द कहे बिना, उस मित्र से अपने साथ हुई प्रंचना का बदला ले लिया।

विद्या ददाति विनयं

विद्या ददाति विनयं विपुलय वित्तं।
चित्तं प्रसादयति जाड्यम्पाकरोति।।
सत्याभूतं वचसि सिञ्चति किञ्च विद्या।
विद्या नृणां सुरतरुर्धरनीतलस्थः।।

विद्या विकासचति बुद्धिविवेकवीर्याम्।
विद्या विदेशगमने सुहृदय द्वितीयः।।
विद्या हि रूपमतुलं प्रथितं पृथिकाम्।
विद्या धनं न निर्धनं न च तस्य भागः।।

रूपं नृणां कतिनिदेव दिनानि नूनं।
देहं विभूषयति भूषणसन्निकर्षात्।।
विद्याभिधं पुनरिदं सहकरि शृण्यम्।
आमृत्यु भूषयति तुल्यतयेव देहम्।।

अन्यानि यानि विदितानि घनानि लोके।
दानेन यान्ति निधनं नियतं तु तानि।।
विद्या धनस्य पुनराय महान् गुणोऽसा।
दानेन वृहिमधिगच्छति यत् सदेदम्।।

ईश्वरेण न रूपेण न बलेनापि तादृशी।
यादृभी हि भवेत ख्यातिर्विद्यया निरवघया।।

दुर्बलोऽपि दरिद्रोऽपिनीचंवशभवोऽपिसन्।
भाजनं राज पूजायां नरो भवति विद्याया।।

विद्वतसभा सुमनुजः परिहीनविद्यो।
नैवादरं क्वचिदुपैति न चापि शोभाम्।।
हासाय केवल मसौ नियतं जनानाम्।
तज्जीवितं विकमेव तथाविद्याय।।

अज्ञानखण्डनकारी धनमानहेतुः।
सौख्यपवर्गफलमार्गनिदेशिनी च।।
सा नः समस्त जगताम् मिलाय भूमिर्विद्या।
निरस्य जडतां धियमादधातु।।

उक्त श्लोक स्वयं ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी ने रचे हैं। कॉलेज के दौरान पद्य रचना की प्रतियोगिता थी। उन्होंने इसमें निस्कोंच भाग लिया व कहना न होगा कि इतने सुंदर व प्रभावशाली श्लोकों के रचयिता को नकद सौ रुपए का प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया।

उन दिनों बंगाल में 'हिन्दू लॉ कमेटी' की परीक्षा पास कर अदालतों में जज पंडित की नियुक्ति होती थी। भारतीयों के धार्मिक व सांस्कृतिक मसले हल करने के लिए ही अदालतों में ये जज पंडित बिठाए जाते थे। ईश्वरचंद्र ने निर्णय लिया कि वे न्यायशात्र की परीक्षा की तैयारी के साथ ही हिंदू लॉ कमेटी की परीक्षा भी पास करेंगे।

उन्होंने पूरे छह माह में परीक्षा की कड़ी तैयारी की व इस चुनौती को स्वीकारा। पहले से ही काम का काफी बोझ था, लेकिन जब इनसान कुछ करने की ठान लेता है तो स्वयं संकल्पशक्ति उसकी सहायक बनती है।

ज्यों ही वे 'जज पंडित' बने, कॉलेज की कार्यकरिणी ने उन्हें 'न्याय-शात्र' की उपाधि के साथ-साथ 'विद्यासागर' की उपाधि से भी विभूषित कर दिया।

ईश्वर को त्रिपुरा में 'जज पंडित' के रूप में नियुक्ति का अवसर भी मिला, किंतु पिता की

आज्ञा न होने से वहाँ नहीं जा पाए।

कॉलेज में बारह वर्ष के अध्ययन के पश्चात् वे व्याकरण, साहित्य, अलंकार, वेदांत-दर्शन, न्यायदर्शन व ज्योतिष आदि में पारंगत हो गए।

4 सितंबर, 1841 को उन्हें संस्कृत की ओर से संस्कृत भाषा और साहित्य में प्रवीणता का प्रमाण-पत्र दिया गया, जो आज भी बंगीय साहित्य परिषद् के संग्रह में सँजोकर रखा गया है।

इसके पश्चात् हमारे कर्मवीर के जीवन में किए गए प्रयासों व उपलब्धियों की गाथा प्रारंभ होती है।

कर्मक्षेत्र में प्रवेश

विद्या के क्षेत्र में पारंगत होने के पश्चात् विद्यासागरजी ने जीवन के कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया। उन दिनों कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई थी। वहाँ ईस्ट इंडिया कंपनी, भारत में नौकरी के लिए भरती किए यूरोपियों को प्रशिक्षण दिलवाती थी। कॉलेज के पाठ्यक्रम में बंगाली, हिंदू व मुसलमान कानून शामिल किए गए थे।

ईश्वरचंद्रजी दिसंबर 1841 में उसी कॉलेज के बांग्ला विभाग में प्रधान पंडित नियुक्त किए गए। यह स्थान भारतीय तथा पाश्चात्य विचारों व संस्कृति के आदान-प्रदान के लिए उपयुक्त था।

विद्यासागरजी ने भी तय किया कि वे अपने अंग्रेजी ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने हिंदी भाषा में नवीनता पाने के लिए हिंदी अध्यापक भी रखा। शीघ्र ही बांग्ला व संस्कृत के साथ-साथ हिंदी तथा अंग्रेजी पर भी गहरी पकड़ बना ली। कॉलेज के सचिव कैप्टन मार्शल विद्यासागरजी से बेहद स्नेह रखते थे।

विद्यासागरजी ने बंगाली छात्रों को संस्कृत पढ़ाने के लिए नई पद्धति अपनाई तथा उसमें सफल भी रहे। इसी अवधि में उन्होंने संस्कृत व्याकरण भी लिखा।

कुछ समय बाद कॉलेज के सहायक सचिव का पद रिक्त हुआ तो शिक्षा परिषद् के सचिव ने चाहा कि विद्यासागरजी को वह पद सौंप दिया जाए। मार्शल से पूछा गया तो उन्होंने तत्काल हामी भर दी। उन्होंने विद्यासागरजी से कहलवाया कि वे उक्त पद के लिए अपना आवेदन-पत्र भेज दें।

विद्यासागरजी ने उन्हें अपनी प्रतिष्ठित मान्यताओं व विशेषताओं का हवाला देते हुए यह भी लिखा कि वे संस्था के छात्रों को अपनी उपयोगी सेवाएँ दे सकेंगे।

कैप्टन मार्शल ने संस्कृत विभाग के अधिकारियों को यह आवेदन-पत्र भेजते समय अपनी संस्तुति जोड़ दी, “विद्यासागरजी ने ऊँचे दरजे का अंग्रेजी भाषा का ज्ञान पा लिया है तथा उनमें अच्छी पकड़, बुद्धिमत्ता, परिश्रम, शिक्षा प्रदान करने का उत्कृष्ट तरीका व शानदार चरित्र का प्रबल संगठन है।”

अप्रैल 1846 में वे कॉलेज के उपसचिव चुने गए। उन्होंने अपने स्वभावानुसार नए सिरे से संपूर्ण शिक्षा पद्धति पर कार्य करना आरंभ किया। किंतु प्रायः कुछ लोगों को किसी भी तरह का परिवर्तन स्वीकार्य नहीं होता। यहाँ भी यही हुआ। सचिव रसमय दत्त के साथ उनका

मतभेद हो गया, फलस्वरूप उन्होंने पद त्याग दिया।

इससे पूर्व कभी किसी से उनका मतभेद नहीं हुआ था। सभी अध्यापक व पंडितों ने मिलकर उच्च अधिकारियों को ज्ञापन दिया, उसमें लिखा थाः 'विद्यासागरजी से उस पद पर बने रहने का आग्रह करें।'

सचिव रसमय दत्त ने पदत्याग का कारण पूछा तो पत्र के प्रत्युत्तर में विद्यासागरजी ने लिखा-

"मैं संस्कृत भाषा व साहित्य की गहन जानकारी के साथ इस स्थान पर इसलिए आया था कि अच्छी शिक्षा ग्रहण करने के मार्ग की बाधाएँ दूर कर सकूँ। मेरी सुधार संबंधी योजनाएँ फलीभूत नहीं हो पा रहीं। अतः यही बेहतर होगा कि मैं यह पद त्याग दूँ।"

कुछ मित्रों ने विद्यासागरजी ने कहा कि उन्हें उक्त पद को नहीं छोड़ना चाहिए था। सत्य का साथ देनेवाले विद्यासागरजी ने कहा, "मैं अपनी रोटी कमाने के लिए सिद्धांतों के विरुद्ध जाने की बजाय सब्जी बेचना अधिक पसंद करूँगा।"

विद्यासागरजी को कॉलेज या उसके वातावरण से कोई शिकायत नहीं थी, केवल किसी के आगे न झुकने की प्रवृत्ति के कारण ही वे वहाँ से चले गए। इसके बाद से करीब डेढ़ वर्ष तक बेरोजगार रहे। इस अवधि में उन्होंने पुस्तक-प्रकाशन तथा विक्रय का विचार बनाया। उन्होंने संस्कृत प्रेस व सहयोगी संस्थान डिपोजटरी प्रेस की स्थापना की।

प्रेस में संस्कृत व बांग्ला की पुस्तकें प्रकाशित होती थीं तथा दूसरा संस्थान पुस्तकों का विक्रय करता था। आनेवाले समय में दोनों संस्थान उनकी आय का प्रमुख स्रोत बने। दिल खोलकर दूसरों को दान देनेवाले के लिए ईश्वर ने स्वयं ही स्थायी आय का स्रोत बना दिया था। इसी अवधि में वे स्वयं भी पुस्तकें लिखने लगे। उन्होंने पञ्चविंशति का बँगला रूपांतर तैयार करने के साथ-साथ बंगाल के तात्कालिक इतिहास पर पुस्तक लिखी।

आनेवाले वर्षों में यह लेखन कोई व्यवसाय नहीं, एक शौक बन गया। उन्होंने सामाजिक सुधार की गतिविधियों में भी लेखन को अभिव्यक्ति का माध्यम चुना।

मार्च 1849 में वे पुनः फोर्ट विलियम कॉलेज में प्रमुख लेखक व कोषाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए, किंतु वहाँ कुछ समय तक कार्य करने के बाद वे पुनः संस्कृत कॉलेज में जा पहुँचे।

संस्कृत कॉलेज में नियुक्ति

जनवरी 1851 में ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने संस्कृत कॉलेज के आचार्य पद को सुशोभित किया। ईश्वरचंद्रजी चाहते थे कि उन्हें संस्कृत कॉलेज में आचार्य के सभी अधिकार मिलें। उसी दौरान सचिव रसमय दत्त ने अपना पद छोड़ दिया।

विद्यासागरजी ने कॉलेज के विषय में जो रिपोर्ट दी। उसे सभी अधिकारियों ने सराहा और वे आचार्य तथा सचिव दोनों का ही काम सँभालने लगे। विद्यासागरजी ने एक छात्र के रूप में वहाँ काफी लंबा समय बिताया था। अतः वे वहाँ की कमियों से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने कॉलेज जीवन व शिक्षा को बेहतर बनाने की दिशा में कई कदम उठाए।

पहले-पहल उन्होंने व्याकरण विभाग की चर्चा करते हुए कहा, “संस्कृत एक कठिन भाषा है। अतः इसमें प्रारंभ से ही व्याकरण पढ़ाना एक अच्छी योजना नहीं कही जा सकती।” बोपदेव की व्याकरण का विस्तृत भाष्य व टिप्पणियाँ काफी समय नष्ट करती हैं। छात्रों को संस्कृत की दो-तीन सरल पाठ्यपुस्तकें पढ़ाने के बाद सिद्धांत कौमुदी पढ़ानी चाहिए, ताकि संस्कृत भाषा उनके लिए हौव्वा न बने।

गणित के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर इंगित करते हुए कहा, “गणित के अध्ययन के लिए पश्चिमी पद्धति अपनाई जाए, किंतु इसे भाषाओं के माध्यम से ही अपनाएँ। अच्छे अंग्रेजी ग्रंथों के संकलन के बाद उनका अनुवाद ठीक रहेगा।”

स्मृति अध्ययन में से कुछ तत्त्व हटा दिए गए। उनके अनुसार, वे केवल पौरोहित्य वर्ग के ही काम आनेवाले थे।

न्याय व दर्शनशात्र के विषय में उनका मानना था कि एक अच्छे संस्कृत विद्वान् को भारतीय दर्शनशात्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए, किंतु साथ ही अंग्रेजी भी सीख लेनी चाहिए, ताकि वह यूरोप के आधुनिक दर्शनशात्र की जानकारी भी ले सके, तभी उसका ज्ञान संपूर्ण माना जाएगा। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से उनकी अपनी समझ के द्वार विकसित होंगे तथा वे स्वयं विवेकसम्मत निर्णय ले पाएँगे।

यद्यपि ये विचार कट्टरपंथी अध्यापकों के लिए नए थे, किंतु परिषद् ने बदलते जमाने के तौर-तरीकों को ध्यान में रखते हुए इन्हें अपना लिया। विद्यासागरजी की विस्तृत रिपोर्ट ने कई व्यक्तियों का ध्यान अपनी ओर खींचा। कुछ लोग इस भावी परिवर्तन की सूचना से प्रसन्न थे तो कई लकीर के फकीर आलोचना का रस ले रहे थे।

इन सब बातों से बेखबर विद्यासागरजी पूरे उत्साह व मनोयोग से सुधार योजनाओंं के क्रियान्वयन में जुटे थे। उन्होंने शिक्षा के अध्ययन-अध्यापन की अन्य व्यवस्थाएँ कीं। कॉलेज में अनुशासन लागू किया। जाति के आधार पर लड़कों के प्रवेश पर उन्होंने ही रोक लगाई। उन्हें के प्रयत्नों से सभी जातियों के लड़कों को कॉलेज में शिक्षा पाने का अधिकार मिल सका।

पहले-पहल कॉलेज में पुराने शिक्षक संस्थानों की तरह, पूर्णिमा के अनुसार, पहले तथा आठवें दिन अवकाश रहता था, जबकि दूसरे शिक्षण संस्थानों में रविवार को अवकाश होता था, पुराना तरीका काफी उलझन भरा व अनिश्चित था। विद्यासागरजी ने रविवार की छुट्टी का नियम लागू किया।

पहले कॉलेज में पढ़ने की कोई फीस भी नहीं लगती थी। विद्यासागरजी ने अनुचित ठहराते हुए कहा कि मनुष्य किसी भी निःशुल्क मिलनेवाली सुविधा की उतनी परवाह नहीं करता। इस प्रकार कई लोग निःशुल्क शिक्षा के लिए नाम तो लिखवा लेते हैं, किंतु समय पर पढ़ने नहीं जाते। यदि उन्हें इस पढ़ाई के लिए फीस भरनी पड़े तो वह निश्चिय ही उसे गंभीरता से लेंगे।

यह सुधार भी सटीक था। फीस लागू होते ही छात्रों की हाजिरी संतोषजनक रहने लगी।

परिषद् ने मई 1853 में यह इच्छा प्रकट की कि बनारस सरकारी संस्कृत कॉलेज के आचार्य डॉ. जे.आर. वैलेंटाइन द्वारा विद्यासागरजी की नई संस्कृत शिक्षा प्रणाली को मंजूर कराया जाए।

वैलेंटाइन ने कॉलेज का निरीक्षण किया। रिपोर्ट में विद्यासागरजी के सुधारों की प्रशंसा के साथ-साथ पाठ्यपुस्तकों में फेरबदल की बात भी की गई थी। विद्यासागरजी उनके द्वारा सुझाई गई पुस्तकों के विषय में अलग विचार रखते थे। वैलेंटाइन ने कहा कि मूल पुस्तक के स्थान पर 'एब्सट्रैक्ट ऑफ मिल्स लॉजिक' पढ़ाया जाए। विद्यासागरजी ने अपना सुझाव प्रस्तुत किया। न्याय और सांख्य संबंधी पुस्तकों के विषय में भी विद्यासागर ने दो टूक जवाब दिया। उन्हें वह चयन बिलकुल नहीं जँच रहा था।

इस प्रकार विद्यासागरजी ने गलत तर्क़ों के आगे झुकने से इनकार कर दिया। परिषद् ने पत्र में लिखा कि आचार्य से अपेक्षा की जाती है कि वे वैलेंटाइन द्वारा लागू किए गए पाठ्यक्रम को चालू करें तथा उनसे समय-समय पर शिक्षा संबंधी निर्देश लेते रहें।

विद्यासागरजी को पत्र की यह भाषा पसंद नहीं आई। उन दिनों दुर्गा पूजा की छुट्टियाँ होनेवाली थीं। उन्होंने प्रत्युत्तर दिया-

"यदि हम इन आदेशों को पूर्णतः स्वीकृत मानें तो पहले से स्वीकृत शिक्षा योजना में काफी हस्तक्षेप होगा तथा कॉलेज की स्थिति काफी डाँवाँडोल हो जाएगी।" वैलेंटाइन महोदय द्वारा सुझाई गई अच्छी व श्रेष्ठ कृतियों को हम अवश्य ही पाठ्यक्रम में स्थान देंगे, किंतु यदि

उनके सभी संकलनों को स्वीकार करना है तो मेरी क्या आवश्यकता है।

इस पत्र ने परिषद् की आँखें खोल दीं। उन्होंने अपने आचार्य के मोल को जानते हुए उन्हें शिक्षा संबंधी नीति स्वतंत्र रूप से लागू करने के सभी अधिकार दे दिए। इस एक निर्णय ने संस्कृत कॉलेज की प्रगति में चार चाँद लगा दिए। कॉलेज का यश चारों ओर फैलने लगा।

यद्यपि कुछ ही वर्षों में पुनः शिक्षा की नीति व पद्धति के संबंध में परिषद् से विवाद हो गया। उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। विद्यासागरजी सभी बंधनों से परे जाकर शिक्षा के क्षेत्र में जो नए सुधार व परिवर्तन चाहते थे, उनके लिए वे किसी भी सीमा तक जाने को तैयार रहते थे।

त्री शिक्षा को प्रोत्साहन

विद्यासागरजी अपने संस्कृत कॉलेज में कार्य करने के अतिरिक्त समाज के उन पहलुओं पर भी केंद्रित थे, जिनमें सुधार की आवश्यकता महसूस की जा रही थी।

सर फ्रेडरिक हॉलीडे बंगाल के गवर्नर बने। वे तो पहले से ही विद्यासागरजी के प्रशंसकों में से थे। सरकार उन दिनों देशी भाषा के स्कूल खोलने के लिए प्रयत्नशील थी। वह चाहती थी कि विद्यासागर कभी-कभी उन देशी भाषा के स्कूलों का निरीक्षण कर रिपोर्ट दे दिया करें, जबकि हॉलीडे जानते थे कि विद्यासागरजी कभी भी अस्थायी रूप से ऐसा पद नहीं लेना चाहेंगे, जहाँ वे अपने सुधारों को लागू न कर सकें; जहाँ उन्हें ऊपर से हस्तक्षेप हो।

अंततः विद्यासागरजी को कॉलेज के आचार्य पद के अतिरिक्त 200 रुपए के अतिरिक्त वेतन पर दक्षिण बंगाल के स्कूलों का निरीक्षक का पद दिया गया। उन्होंने हुगली, मिदनापुर, वर्दवान, नादिया व चौबीस परगना जैसे इलाकों का दौरा किया तथा प्रत्येक जिले में एक-एक मॉडल स्कूल खोलने का विचार बनाया। बीस गाँवों में लगभग बीस मॉडल स्कूल बनाए गए।

मॉडल स्कूल में प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति के लिए नॉर्मल स्कूल भी खोले गए। यद्यपि यह योजना अधिक सफल नहीं रही; क्योंकि देहाती जनता के लिए तब तक भी शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं था।

इसी दौरान विद्यासागरजी ने त्री शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। दरअसल, तत्कालीन समाज त्रियों को शिक्षा देने का घोर विरोधी था। अंग्रेज भी अपनी ओर से ऐसा कोई कदम उठाने में हिचकिचाते थे, जिससे भारतीयों के रीति-रिवाजों व परंपराओं को चोट पहुँचे और वे विरोध करें। परिणामतः इस ओर कोई खास प्रयत्न किए ही नहीं गए। बंगाल में त्री शिक्षा को उन्नत बनाने के लिए 1845 में वेथ्यून स्कूल की स्थापना की गई। विद्यासागरजी आंरभ से ही इस स्कूल को निरंतर सहयोग देते रहे।

ईसाई मिशनरियों ने इससे पहले कुछ प्रयास किए थे, किंतु वे शिक्षा देने की बजाय धर्म के प्रचार में ज्यादा रुचि रखते थे। अतः लोगों ने इस ओर इतना ध्यान नहीं दिया।

वेथ्यून स्कूल की स्थापना के साथ ही सरकार व समाज के प्रभुत्वसंपन्न वर्ग ने भी इस दिशा में सहयोग देना आरंभ किया। कई स्थानों पर लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए। लोगों ने अपने यहाँ स्कूल खोलने के लिए जगह दान में दी।

कोई भी अच्छा कार्य आरंभ किया जाए तो बाधाएँ आती ही हैं। कन्या पाठशालाओं के विरोधियों की संख्या भी कम नहीं थी। उनके सहायकों को तरह-तरह के कष्ट दिए जाते। उनके लिए अपशब्दों का प्रयोग होता। व्यंग्य-बाण कसे जाते। कभी-कभी विरोधियों की चाल कामयाब होती तो अच्छे-खासे चलते स्कूल में केवल तीन-चार छात्राएँ रह जातीं, किंतु समाज का एक वर्ग ऐसा भी था, जो सभी संकटों व परेशानियों से जूझकर भी अपनी पुत्रियों को शिक्षा दिलवाने के लिए कटिबद्ध था।

वेथ्यून शिक्षा परिषद् के अध्यक्ष थे। उन्होंने विद्यासागरजी की लगन व सेवाभाव को देखते हुए विनती की कि वे वेथ्यून स्कूल के अवैतनिक सचिव का पद स्वीकार कर लें। विद्यासागर की नैतिकता, ईमानदारी, साहस व निष्ठा किसी से छिपी न थी। वे अपने सभी उत्तरदायित्वों के साथ-साथ इस कार्य को भी बखूबी निभाते रहे।

वेथ्यून की मृत्यु के कुछ समय बाद सरकार ने उन स्कूलों का काम अपने हाथ में ले लिया। तत्कालीन उच्च अधिकारी वीडन ने परामर्श दिया। इस मान्यता प्राप्त सरकारी संस्था की एक प्रंध समिति बनाई जाए। जिसमें प्रमुख हिंदुओं को सदस्य तथा विद्यासागरजी को सचिव बनाया जाए। विद्यासागरजी ने इस संस्था को जो सेवाएँ दीं, उन्हें ध्यान में रखते हुए उनके लिए यही पद उपयुक्त जान पड़ता है।

विद्यासागरजी त्री शिक्षा के कार्य को बंगाल के देहाती वर्ग तक भी पहुँचाना चाहते थे। उन्होंने लड़कियों के स्कूल खोलने संबंधी कई योजनाएँ लागू कीं।

गवर्नर हॉलीडे स्वयं इस विषय में रुचि ले रहे थे। उन्होंने विद्यासागरजी के साथ मिलकर इस स्थिति पर विचार-विमर्श किया व दोनों ने तय किया कि शहर तथा गाँव में लड़कियों के लिए स्कूल खोलने की योजनाओं को अतिशीघ क्रियान्वित किया जाए। गाँवों में खुले स्कूलों से अच्छी रिपोर्ट आने लगीं। ब्राह्मण व कायस्थ परिवारों की कन्याएँ पढ़ने जाने लगीं।

नवंबर 1857 व मई 1858 के दौरान विद्यासागरजी ने लगभग 25 स्कूल खोले। वे चाहते थे कि सरकार इन स्कूलों का खर्चा उठाए, किंतु सरकार का कहना था कि यदि लोग धन देकर इन्हें चालू नहीं रखना चाहते तो इन पर पैसा लगाना व्यर्थ होगा। यह बड़ी विकट समस्या थी। विद्यासागरजी ने इसके लिए काफी दौड-धूप की। जब तक सरकार की ओर से इस विषय में कोई स्वीकृति नहीं मिली, तब तक वह स्वयं स्कूल का खर्च तथा शिक्षकों का वेतन अपनी जेब से देते रहे।

उन्होंने लड़कियों की निःशुल्क शिक्षा का प्रंध किया था। न तो उनसे फीस ली जाती थी और न ही उन्हें किताबें खरीदने की आवश्यकता थी। यहाँ तक कि दूर से आनेवाली लड़कियों के लिए वाहनों की व्यवस्था भी की गई थी।

स्कूल की गाड़ी के दरवाजे पर मनुस्मृति का श्लोक लिखवाया गया था जिसका अर्थ था कि कन्याओं को भी लड़कों की तरह शिक्षा पाने का समान अधिकार है। कट्टरपंथी हिंदुओं की

आँखें खोलने के लिए मनुस्मृति से लिया गया उद्धरण एक अच्छा उपाय था।

यद्यपि उस समय स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति तो हुई, किंतु बंगाली परिवार अपनी पुत्रियों को नौ-दस साल की आयु तक ही पढ़ाते थे। वे चाहते थे कि वह बस चिट्ठी-पत्री लिखने व धार्मिक ग्रंथ पढ़ने योग्य हो जाए।

उन दिनों बाल-विवाह भी प्रचलन में थे। आनेवाले समय में विद्यासागरजी ने बाल-विवाह, विधवा विवाह तथा बहु-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों पर गहरी चोट की, यह कार्य एक तरह से स्त्री अधिकारों के लिए ही था।

आनेवाले वर्षों में विद्यासागरजी सरीखे कर्मवीरों की मेहनत रंग लाई। समाज में स्त्रियों ने शिक्षा के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित किए।

मिस कारपेंटर

20 नवंबर, 1866 को मिस कारपेंटर कलकत्ता आइऔ। पाठकों को पहले मिस कारपेंटर का परिचय दे दें। वह अपने जीवन के आरंभिक वर्ष्रों में इंग्लैंड में राजा राममोहन राय के संपर्क में आई थीं। तभी से उनके हृदय में भारत के कल्याण की तीव्र तथा बलबती इच्छा उत्पन्न हुई।

कुछ वर्ष्रों पश्चात् उन्होंने स्वयं भारत जाने का मन बना लिया। इस प्रकार वह भारत के प्रमुख शहरों का भमण करती हुई कलकत्ता पहुँचीं। वे त्री शिक्षा की विशेषज्ञ थीं। अतः उनके आगमन से त्री शिक्षा के क्षेत्र में कुछ सकारात्मक परिवर्तन आए।

वह आते ही समाज के अनेक गण्मान्य व्यक्तियों से मिलीं, फिर उन्होंने कहा कि वे पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी से मिलना चाहेंगी। विद्यासागर व मिस कारपेंटर नियत समय पर मिले। पहली ही भेंट में दोनों अटूट मित्रता के बंधन में बँध गए। इसके बाद जब भी मिस कारपेंटर लड़कियों के किसी स्कूल में जातीं तो पंडितजी को भी वहीं बुलवा लेतीं। इस प्रकार दोनों मिलकर वहाँ की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते व हल निकालते।

इसी दौरान ईश्वरचंद्रजी दुर्घटना के शिकार हो गए। वह एक ताँगे पर सवार थे, जो खतरनाक मोड़ पर पलट गया। वे लुढ़ककर दूर जा गिरे। दूसरी ओर से मिस मेरी कुछ साथियों के साथ दूसरे ताँगे पर आ रही थीं। उन्होंने सड़क के किनारे लगी भीड़ देखी तो कौतूहलवश ताँगा रुकवा लिया। भीड़ के बीच बेहोश विद्यासागरजी को देखा तो झट उनके पास जा पहुचीं।

वह गोद में उनका सिर लेकर पंखे से हवा करने लगीं व दूसरे साथियों ने प्राथमिक चिकित्सा का प्रंध किया। इस दुर्घटना में विद्यासागरजी को काफी चोटें आई। पूरे एक महीने के इलाज के बाद तबीयत थोड़ी सँभली, किंतु उनकी गिरती सेहत कभी न सँभल पाई। वह प्रायः तेज सिरदर्द की शिकायत करते। पाचन-शक्ति मंद पड़ गई थी, इसलिए उन्हें हलका भोजन लेना पड़ता। जरा सा भी गरिष्ठ भोजन पचाना मुश्किल था। वे प्रायः हँसते, “पहले निर्धनता ने दूध का स्वाद नहीं लेने दिया और अब यह रोग दूध पीने पर पाबंदी लगा रहा है।”

इस दुर्घटना के बाद शरीर की शक्ति क्षीण रहने लगी। चिकित्सकों के परामर्श से उन्हें जलवायु परविर्तन के लिए भी जाना पड़ा, किंतु पहले सा शारीरिक श्रम कभी नहीं कर सके।

अब फिर से मिस कारपेंटर की चर्चा करते हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि त्री शिक्षकों के लिए एक प्रशिक्षिण विद्यालय खोला जाना चाहिए। उन्होंने इसकी एक योजना बनाकर सरकार को भेज दी। बंगाल के ले. गवर्नर सर विलियम ग्रे इस विषय में विद्यासागरजी के विचार जानना चाहते थे। उन्होंने इस आशा से पंडितजी से भेंट की और उन्हें पत्र लिखा। विद्यासागरजी ने अपने पत्र में प्रत्युत्तर दिया-

“मैंने आपके द्वारा कही गई बात पर अच्छी तरह से सोच-विचार किया व यह कहने में मुझे अफसोस हो रहा है कि मैं मिस मेरी की योजना के विषय में अपनी राय नहीं बदल सकता। मुझे नहीं लगता कि त्री-शिक्षकों का प्रशिक्षण स्कूल खोलना व्यावहारिक रूप से उपादेय होगा।”

“सरकार से भी मैं यही कहूँगा कि वह मिस मेरी की इस योजना में प्रत्यक्ष रूप से हाथ न डालें। समाज की वर्तमान परिस्थितियां व लोगों की भावनाएँ तो यही कहती हैं कि संभवतः सरकार को इस विषय में सफलता न मिल पाए।”

“आप तो जानते ही हैं कि मैं त्री शिक्षा का कितनी बड़ा हिमायती हूँ, किंतु आप समझ सकते हैं कि सम्मानित हिंदू अपने घर की त्रियों के अध्यापन के इस व्यवसाय में नहीं जाने देंगे। जब वे दस-ग्यारह साल की लड़कियों को ही पाठशाला भेजने के लिए राजी नहीं होते तो अपनी कन्याओं को अध्यापिका कहाँ से बनने देंगे, केवल बेसहारा व अशिक्षित विधवाएँ ही इस कार्य के लिए आगे आ सकती हैं, किंतु अपना घर छोड़कर बाहर आते ही वे संदेह तथा अविश्वास के घेरे में फँस जाएँगी; नतीजतन शैक्षणिक कार्य का नैतिक आधार भी समाप्त हो जाएगा।

जब उनसे वेथ्यून स्कूल को बंद करने के विषय में राय माँगी गई तो उन्होंने कहा, घमैं वैथ्यून स्कूल को बंद करने की सिफारिश नहीं करता। मैं सहमत हूँ कि जितना इस पर व्यय होता है, उतना लाभ नहीं होता। जिसके नाम पर यह संस्था बनी है, भारत में उस महान् परोपकारी व्यक्ति के स्मारक के रूप में ही इसे चालू रखा जाना चाहिए। मैं सरकार द्वारा इसके समर्थन की माँग करता हूँ।

यह संस्था एक सुंगठित संस्थान के रूप में आदर्श का काम कर रही है। इसने आसपास के जिलों में भी त्री शिक्षा के लिए आधार बनाया है।

मेरी कारपेंटर की उस अदूरदर्शी योजना में विद्यासागरजी का साथ नहीं था, किंतु फिर भी वे अधिकारियों को अपना सहयोग देते रहे। सरकार ने मेरी कारपेंटर की योजना को प्रश्रय दिया व वेथ्यून स्कूल की इमारत में ही अध्यापिकाओ के प्रशिक्षण के लिए ‘फीमेल नॉर्मल स्कूल’ खोला गया। सरकार ने इसे चलाने के लिए 12,000 रुपए का वार्षिक व्यय मंजूर किया था, किंतु स्कूल बिलकुल नहीं चला।

आगे आनेवाली वार्षिक रिपोर्टों की टिप्पणी से स्कूल की असफलता का पता चलता है। विद्यासागर जानते थे कि लोग उस योजना में सहयोग नहीं देंगे। इस प्रकार उनका वह

कथन अक्षरशः सत्य रहा। 1872 में 'नॉर्मल फीमेल स्कूल' को भंग कर दिया गया।

आगे आने वाले वर्षों में ईश्वरचंद्रजी त्री शिक्षा के लिए विविध रूपों में प्रयत्नशील रहे। उन्होंने त्रियों को समाज में समान शिक्षा दिलवाने के स्वप्न को साकार होते देखा।

दि हिंदू मेट्रोपॉलिटन इंस्टीट्यूशन

"यह अपने प्रकार की पहली राष्ट्रीय संस्था थी, जो बंगाली छात्रों को उच्चतर अंग्रेजी शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थापित की गई, जिसका प्रंध पूर्णतः बंगालियों के हाथ में था। इस प्रकार विद्यासागरजी ने राष्ट्रीय आधार पर हमारे देश में अंगेजी शिक्षा की नींव डाली। यह व्यक्ति निर्धन परिवार में पैदा हुआ, किंतु उसने देश का सबसे बड़ा हित किया। यह बड़े मजे की बात है कि जो व्यक्ति समाज को इन परंपराओं व रिवाजों के बंधनों से मुक्त कराने के लिए सबसे बड़ा योद्धा बन गया था तथा जो व्यक्ति संस्कृत साहित्य का उच्चकोटि का विद्वान् था, उसी ने अपने प्रयत्नों से राष्ट्रीय आधार पर अंग्रेजी शिक्षा की नींव रखी।

(विद्यासागर चरित-रवींद्रनाथ ठाकुर)

गुरुदेव के शब्दों में अक्षरशः सत्यता छिपी है। विद्यासागरजी वास्तव में ऐसे ही भारत रत्न थे, जिन्होंने अपने प्रखर आलोक से सदैव दूसरों का पथ प्रशस्त किया। वे भी जानते थे कि पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण करने की बजाय यदि उसकी भाषा को अपनाया जाए तो संभवतः आनेवाले वर्षों में भारतीय अंग्रेजों को पछाड़ सकें। उनकी यह दीर्घकालीन सोच व्यर्थ नहीं हुई। आनेवाले वर्षों में अंग्रेजी व भारतीय भाषाओं के प्रकांड विद्वान् ही स्वतंत्रता आंदोलन के अग्रणी बने, क्योंकि उनके पास देशभक्ति की भावना के साथ-साथ दूसरे देशों द्वारा स्वतंत्रता-प्राप्ति या क्रांति के लिए अपनाई गई रणनीतियें की गहरी समझ भी थी। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान ने उन्हें वैश्विक स्तर पर जोड़ा था। कहते हैं कि इनसान को प्रायः अपना मोल दूसरों की नजरों से ही दिखता है। भारतीय अपनी जिस सभ्यता-संस्कृति को हेय मानते थे, जब उसी सभ्यता के सूत्रों व सिद्धांतों को विविध रूपों में दूसरे देशों को अपनाते देखा तो उन्हें लगा कि वे कितने महान् देश के वासी हैं।

अब हम उस संस्था की चर्चा करेंगे, जिसे विद्यासागरजी ने अपने स्नेह, कर्तव्य व कड़े परिश्रम के जल से सींचा। विद्यासागरजी ने अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रीय भावनाओं से जोड़ दिया। इस प्रकार देश के भावी राष्ट्रवादियों का मनोबल और भी ऊँचा हो गया।

सन् 1859 में 'कलकत्ता टेनिंग स्कूल' की स्थापना हुई। संस्था का उद्देश्य यही था कि मध्यमवर्गीय युवक अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर सकें। उसकी फीस सरकारी व मिशनरी स्कूलों की तुलना में काफी कम थी।

विद्यासागरजी ने भी मित्रों सहित समिति के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लिया। विद्यासागरजी के निर्देशन ने स्कूल की उन्नति में भरपूर सहयोग दिया। 1861 में एक नई प्रंध समिति बनी व विद्यासागरजी ने संस्था का कार्यभार पूर्णतः सँभाल लिया। वे संस्था के

सचिव बनाए गए।

सन् 1864 में कलकत्ता टेनिंग स्कूल' का नाम बदलकर ' 'दि हिंदू मेट्रोपॉलिटन इंस्टीट्यशन' कर दिया गया। विद्यासागरजी चाहते थे कि कला-कक्षाओं में उच्च शिक्षा के लिए संस्था को कलकत्ता विश्वविद्यालय से संबद्ध कर दिया जाए, किंतु अंग्रेज भक्त अधिकारी यह कैसे सहन कर सकते थे कि भारतीयों द्वारा अंग्रेजी के लिए चलनेवाली संस्था को यह मान्यता मिले।

अपील तो अस्वीकृत हो गई, किंतु विद्यासागरजी ने हार नहीं मानी। वे इसके लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे। 1866 में सस्थां के संरक्षक व अध्यक्ष प्रतापचंद्रजी का निधन हो गया। वे पैकपाड़ा राजपरिवार से संबंध रखते थे, फिर तो संस्था का सारा उत्तरदायित्व विद्यासागरजी को ही सँभालना पड़ा।

परिस्थितियाँ थोड़ी कठिन थीं। विद्यासागरजी विधवा-विवाह आंदोलन के कारण कर्जे से घिरे हुए थे। यहाँ तक कि उन्हें कई बार स्कूल के लिए जेब से भी खर्च करना पड़ता था। यद्यपि छात्रों से तीन रुपया मासिक शुल्क लिया जाता था, किंतु छात्रों की संख्या कम होने के कारण वह राशि अपर्याप्त रहती।

देखते-ही-देखते मेट्रोपॉलिटन स्कूल ने अपने प्रतिद्वंद्वी टेनिंग एकेडमी को पीछे छोड़ दिया। संस्था के परिणाम इतने शानदार रहे कि छात्र अपनी संस्थाएँ छोड़कर वहाँ दाखिला लेने लगे।

विद्यासागरजी ने पुनः उसे विश्वविद्यालाय से संबद्ध करने के लिए प्रार्थना-पत्र दिया, किंतु इस बार सिंडीकेट के एक प्रभावशाली सदस्य को व्यक्तिगत रूप से पत्र भी लिखा, उसमें कहा गया था-

"सर, मैं आपको हमारी संस्था द्वारा भेजे गए उक्त आवेदन-पत्र के विषय में याद दिलाना चाहता हूँ। यदि वहाँ मीटिंग में सिंडीकेट से कहा गया कि शिक्षा संस्था में न्यून कोटि की शिक्षा होती है, क्योंकि यहाँ के शिक्षक भारतीय हैं तो में इस विषय में आपको यह याद दिलाना चाहूँगा कि संस्कृत कॉलेज में बी.ए. तक पढ़ानेवाले सभी शिक्षक भारतीय ही हैं।

घयदि सिंडीकेट में लगता है कि अधिक योग्य प्राध्यापकों की आवश्यकता है तो हम उनकी नियुक्ति अवश्य करेंगे, किंतु इस विषय में आर्थिक सहायता चाहेंगे। मुझे यकीन है कि आप मेरे अनुभव को ध्यान में रखते हुए मुझे प्राध्यापकों का चुनाव करने व उनका वेतन निर्धारित करने की स्वतंत्रता देंगे। हम चाहते हैं कि इस संस्था को हाई स्कूल में बदल दिया जाए। "प्रेसीडेंसी कॉलेज की फीस अधिक है। मध्यवर्ग के छात्र वह फीस नहीं भर पाते तथा माता-पिता की ओर से मिशनरी कॉलेज में जाने की आज्ञा नहीं मिलती। ऐसे में मजबूरन उन्हें मैट्रिकुलेशन के बाद ही अपनी शिक्षा समाप्त करनी पड़ती है। इन परिस्थितियों में यह शिक्षा संस्था के छात्रों के लिए वरदान साबित हो सकती है।

“मेरे सहित सभी सदस्य इस बात से पूर्णतः संतुष्ट हैं कि हमारे पास संस्था की गतिविधियाँ चलाने के लिए पर्याप्त साधन हैं, किंतु यदि कोई कमी हुई भी तो हम उसे अपनी जेब से पूरा करेंगे।

विद्यासागरजी का प्रयत्न निष्फल नहीं गया। बंगाल के अनेक विख्यात प्रोफेसर उनकी संस्था से जुड़े। अंग्रेजी शिक्षा के क्षेत्र में संस्था की सफलता से सभी चक्ति रह गए। अनेक छात्रों ने स्नातक व स्नातकोत्तर उपाधियाँ ग्रहण कीं। विद्यासागरजी जिस भी कार्य को हाथ में लेते, दिलोजान से उसे पूरा करते। वे अपने स्कूल-कॉलेज के अध्यापक व प्राध्यापकों को भरपूर वेतन देते। शिक्षण संस्थान उनके लिए कभी लाभ कमाने का व्यवसाय नहीं रहा।

इस संदर्भ में वर्तमान स्कूल-कॉलेजों की निजी शिक्षा पर क्षोभ आता है, जहाँ नाना प्रकार से छात्रों की जेबें काटना ही प्रमुख उद्देश्य बन गया है। यदि कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकतर विद्यालय लाभ कमाने के व्यवसाय बन गए हैं, जहाँ छात्रों को शिक्षा प्रदान करने के सिवा सबकुछ होता है। महँगी व ऊँची फीस स्कूल का स्तर निर्धारित करती है। पाठ्येतर गतिविधियाँ शिक्षा पर हावी हैं।

स्कूली शिक्षा ग्लैमर की चपेट में है। अब शिक्षा किसी भी महती उद्देश्य से जुड़ने की वजह आडंबर तथा विलास का माध्यम बनती जा रही है। माता-पिता अपने बच्चे के स्कूल के नाम को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाते हैं। जितना ऊँचा स्कूल, समाज में आपका उतना ही मान।

विद्यासागरजी का आदर्श वास्तव में वरेण्य है। उनकी संस्था के वर्तमान अधिकारी भी स्वयं स्वीकारते हैं कि पंडितजी ने कभी भी संस्था के धन से कोई लाभ नहीं कमाया। यद्यपि वे संस्था से धन लेते भी थे तो उसे ऋण के रूप में लेते, जिसे निर्धारित अवधि में चुका दिया जाता। मेट्रोपॉलिटन शिक्षण संस्था की स्थापना की सफलता का संबंध अनेक राष्ट्रवासियों से रहा। इस संस्था ने उनके भावी जीवन को गति व दिशा प्रदान की। इस संस्था से निकले मध्यमवर्गीय शिक्षित बंगाली युवकों ने आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलन में विविध रूपों में हिस्सा लिया। इस विषय में एक राष्ट्रवादी नेता लिखते हैं-

“इंडियन सिविल सर्विस से निकाले जाने के बाद मुझे कोई दूसरा काम नहीं मिला। वकील के तौर पर भी काम नहीं कर सकता था। जून 1875 में इंग्लैंड से लौटा तो ऐसा कोई उद्योग न था, जहाँ मुझे काम मिल पाता, किंतु अचानक मेरे लिए एक द्वार खुल गया। मुझे पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागरजे ने मेट्रोपॉलिटन इंस्टीट्यूट में अंग्रेजी के प्रोफेसर पद पर नियुक्ति दी, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार किया। हालाँकि वहाँ मिलनेवाला वेतन मेरे पिछले वेतन से आधा था, किंतु मैंने यहाँ कार्य करने के अवसर का भरपूर लाभ उठाया। मैंने यथासंभव कई प्रकार से युवकों में सार्वजनिक तथा देशभक्ति की भावनाएँ जाग्रत् करने का प्रयास किया।

“अपने भाषाणों के कारण मैं अपने छात्रों में काफी लोकप्रिय हो गया था। मेरा मानना है कि इसलिए मुझे वह नियुक्ति भी मिली। मैंने भारतीय एकता, इतिहास, अध्ययन, चैतन्य की जीवनी, उच्च अंग्रेजी शिक्षा, मैजिनी का जीवनवृत्त आदि अनेक विषयों पर भाषण भी

दिए तथा वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हुआ।”

(ए नेशन इन मेकिंग-सुरेंद्रनाथ बनर्जी)

एक गैर-सरकारी संस्था ने यूरोपियन अध्यापकों के सहयोग के बिना अंग्रेजी माध्यम से इतनी अच्छी शिक्षा देने में सफलता प्राप्त की। विद्यासागरजी ने चारों ओर से उठते आलोचनापूर्ण स्वरों की कभी परवाह नहीं की। यद्यपि वे अपने आलोचकों से मिली जानकारी के आधार पर निरंतर स्वयं को ऊँचा उठाने व उन्नत बनाने का प्रयास करते। कोई भी नई चुनौती उन्हें और तेजी व उत्कटता से लड़ने का प्रोत्साहन देती।

बाद के वर्षों में संस्था को विश्वविद्यालय की ओर से कानून की शिक्षा प्रदान करने की अनुमति भी दी गई। 1874 की पहली कला परीक्षा में संस्था ने मेरिट की दृष्टि से दूसरा स्थान पाया। इस सफलता को देख दूसरी संस्थाओं के अधिकारी हैरान थे। विद्यासागरजी उन दिनों कर्मतार में थे। सरकारी गजट में परिणाम देखते ही वे तत्काल कलकत्ता लौटे व अपने घर जाने की बजाय उस छात्र के घर गए, जिसने उच्च स्थान प्राप्त किया था।

जब वह घर पर नहीं मिला तो पंडितजी ने उसे अपने वहाँ पहुँचने का संदेश भिजवा दिया। जब वह छात्र पंडितजी के घर पहुँचा तो उन्होंने उसे अपने पुस्तकालय से स्कॉट वेवरले के उपन्यासों का सेट भेंट में दिया। उन्होंने पुस्तक पर अपने हाथों से लिखा-‘मेट्रोपॉलिटन संस्था के होनहार छात्र जोगींद्रंद्र बोस के लिए...।’

विद्यासागरजी की मृत्यु के बाद इस संस्था का नाम ‘विद्यासागर कॉलेज’ रख दिया गया। यह एक कर्मठ व्यक्तित्व को विनीत श्रद्धांजलि थी।

क्रांतिकारी विचार

'हिंदू विधवाओं का पुनर्विवाह' तत्कालीन हिंदू समाज में ऐसा क्रांतिकारी विचार प्रसारित करना अपने आप में एक कड़ी चुनौती थी। इस सामाजिक कुप्रथा के विषय में पहले-पहल ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने ही बीड़ा उठाया, यह कहना न्यायसंगत न होगा। यह मुहिम तो राजा राममोहन राय के समय से ही चली आ रही थी। उन्होंने सती प्रथा के उन्मूलन का सफल आंदोलन चलाया और उसे कानूनी रूप से बंद करवाने में भी सफल रहे। उन दिनों मृत पति की चिता के साथ ही सती हो जाने की प्रथा थी। सद्यः विधवा को चाहे-अनचाहे पति की चिता के साथ जलकर राख होना पड़ता था। राजा राममोहन राय ने विधवा-विवाह के विषय में चर्चा तो की, किंतु वे पूरे उत्साह के साथ इस पर कार्य नहें कर पाए। किसी भी ऐसे कार्य को सामाजिक स्वीकृति व मान्यता दिलवाने का साहस किसी विरले में ही होता है। निस्देंह इसके बाद भी छिटपुट प्रयास हुए हेंगे, किंतु कोई विशेष फल प्राप्त नहें हो सका।

विद्यासागरजी ने पूरे जोर-शोर के साथ इस दिशा में ठोस व सार्थक पहल की। उनके विषय में रवींद्रनाथ टैगोर कहते हैं-घईश्वरचंद्र विद्यासागरजी के चरित्र का गौरव, उनकी करुणा तथा उनकी विद्या में ही नहीं, अपितु उनके निर्भांत मानवीय गुणों व उनके अटल साहस में भी है।

विद्यासागरजी ने लंबे समय से चले आ रहे इस प्रयोजन को अंतिम प्रारूप दिया। दरअसल वे बाल्यकाल से ही इस कुरीति को जानने लगे थे। कुछ जीवनीकारों का मानना है कि उनकी एक बालसखी को भी बाल विधवा होने का दंश सहना पड़ा था, जिसे देखकर उन्होंने मन-ही-मन तय किया कि वे विधवाओं के पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता दिलाएँगे। कहते हैं कि उन्हें एक दूसरी विधवा के करुण जीवन के विषय में भी जानने का अवसर मिला, जो चरित्र भष्ट हुई व सामाजिक बहिष्कार न सह पाने के कारण उसने आत्महत्या कर ली।

इस विचार को मूर्त रूप देने के पीछे जो बलवती भावना कार्य कर रही थी, वह किसी एक या दो घटनाओं के परिणामवश नहीं रही होगी। इस दौरान जाने कितने ही ऐसे प्रंग व घटनाएँ सामने आई होंगी, जिनसे विद्यासागर के मन में बाल-विवाह, बहुपत्नी प्रथा व बहुविवाह के विषय में प्रतिरोध उत्पन्न हुआ होगा।

ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जहाँ उन्होंने बेमेल विवाह को रोकने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जब वे वेदांत के विद्यार्थी थे तो संस्कृत कॉलेज में शंभुंद्र वाचस्पति उनके

अध्यापक थे। वाचस्पति महोदय की काफी आयु हो गई थी। शरीर में इतना बल न था कि रोजमर्रा के घरेलू काम भी स्वयं कर सकें। वे अकेले रहते थे। किसी तथाकथित हितैषी ने परामर्श दिया-

“आप दूसरा विवाह क्यों नहीं कर लेते। केवल सही तरह से सेवा न हो पाने के कारण शरीर टूट गया। यदि सही सेवा व स्नेह मिलेगा तो जीवन सँवर जाएगा। घर के कामकाज की समस्या भी समाप्त हो जाएगी।च मानो वे उन्हें कोई ब्याहता नहीं, बल्कि परोक्ष रूप से एक नौकरानी लाने का परामर्श दे रहे थे।”

अध्यापक महोदय को यह लाभकारी प्रस्ताव जँच गया। वे प्रायः अपने मामलों में ईश्वर की सलाह भी लेते थे। उन्होंने सहज भाव से पूछा, “ईश्वर! यदि मैं विवाह कर लूँ तो कैसा रहेगा? घर सँभालने वाली गुरु माँ भी आ जाएगी और मेरी गिरती सेहत भी सँभल जाएगी।” यह सुनकर ईश्वर स्तब्ध रह गए। जिस आयु वर्ग में शंभुंद्र थे, उस आयु में नए विवाह की सोच। जाने उनके पास कितनी साँसें शेष थीं, महीना-दो-महीना या साल। यह तो तनिक भी नहीं सोच रहे कि उनके जाने के बाद विधवा पत्नी को कौन आश्रय देगा। उसे मायकेवालों ने भी सहारा न दिया तो क्या वह दर-दर की ठोकरें खाती भटकेगी। कुछ देर विचार करने के बाद वे बोले, “गुरुजी! मेरी बात को अन्यथा न लें। इस आयु में विवाह करना बिलकुल अनुचित हेगा। कृपया अपने थोड़े से सुख के लिए किसी का पूरा जीवन नारकीय न बनाएँ।”

शंभुंद्रजी भला ईश्वर की सलाह क्यों मानने लगे। उन्हें तो दूलहा बनने का शौक चर्राया था । उन्होंने ईश्वर की सहमति-असहमति की परवाह न करते हुए फिर से सप्तपदी रचा ली। यह समाचार जब ईश्वर तक पहुँचा तो वे गुरुजी से दूर रहने लगे। उनके घर जाना भी छोड़ दिया। शंभुंद्र ने एक दिन उन्हें घेर ही लिया।

“मेरे विवाह को इतने दिन बीत गए। तुम अभी तक ‘गुरु माँ’ से मिलने नहीं आए?”

निस्देंह शंभुंद्र की पत्नी के लिए ‘गुरु माँ, का संबोधन ही उचित था। ‘माँ’ शब्द सुनते ही ईश्वर का मन मातृत्व प्रेम के लिए विभोर हो उठा। वे गुरु महाराज के साथ घर चले गए। उन्होंने गुरु माँ के चरणों में दो रुपए रखकर प्रणाम किया व लौटने लगे, किंतु अध्यापक रोकने लगे-घयह क्या बात हुई? माँ से मिले बिना ही लौट जाओगे।

गुरु ने अपनी पत्नी से कहा-

“इससे परदा मत करो। यह मेरा प्रिय शिष्य है।”

पति की आज्ञा से गुरु माँ ने घूँघट हटा दिया। यह क्या, वह तो मात्र चौदह-पंद्रह वर्ष की कोमलांगी कन्या थी। कहाँ वृद्ध शंभुंद्र और कहाँ वह बालिका! ईश्वर के लिए अपने ऊपर नियंत्रण रख पाना कठिन हो गया। वह बालिका के भावी जीवन के विषय में सोचकर दुखी हो गए और उनकी आँखें भर आइऔ।

गुरु ने टोका-घईश्वर, हमारा अमंगल सोचते हो?

ईश्वर ने कुछ नहीं कहा। बस चुपचाप वहाँ से चले आए। उस दिन के बाद उस घर का अन्न-जल तक स्पर्श नहीं किया।

कुछ ही समय के बाद शंभुंद्र की मृत्यु का समाचार मिला। अध्यापक महोदय तो अपना पूरा जीवन भोगकर संसार से विदा हुए थे, किंतु उस बालिका वधू का क्या दोष था, जो जीवन के सोलह बसंत देखने से पूर्व ही विधवा हो गई थी।

ईश्वर ने शंभुंद्रजी को बहुत समझाया था कि वे किसी अल्पवयस्क कन्या से विवाह न करें। उनकी मृत्यु के पश्चात् उसका क्या होगा, किंतु इतना सब सोचने का समय किसके पास था। शंभुंद्र वाचस्पति ने अपने सुख की खातिर एक कन्या को आजीवन विधवा बने रहने का उपहार दे दिया।

जिस कन्या ने अभी जीवन के सुख को जाना भी नहीं, उसे ही विधवा के रूप में प्रत्येक सुख-सुविधा व मनोरंजन से वंचित कर दिया गया। अल्पायु में विधवा-जीवन के कठोर नियम-कानूनों से बँधी युवती का मन स्वतंत्र होने को नहीं छटपटाता होगा? क्या सावन में पेड़ों पर पड़े झूले उसे नहीं लुभाते होंगे? जब उसकी सखियाँ शृंगार कर मिल-बैठती होंगी तो क्या वह अपने सफेद वस्त्रों में सिमटी-सकुचाती उनसे ईर्ष्या नहीं करती होगी? क्या दूसरी माओं की गोदों में किलकते शिशु देख वह मातृत्व सुख पाने को लालायित नहें होती होगी? क्या उसका दिल नहीं चाहता होगा कि वह भी शिक्षा प्राप्त कर देश-विदेश को जाने, ज्ञान का भंडार अर्जित करे। क्या अल्पायु में विवाह और फिर कुछ समय बाद विधवा होने का दंश ही उसकी नियति थी? क्या उसके मूल मनुष्य जीवन का यही प्राप्य था कि वह अनगिनत उपवासों, जप-तप व सामाजिक उपेक्षा के साथ, दिन में एक समय आहार लेकर पूरा जीवन बितादे?

यही सब प्रश्न ईश्वर के मन-मस्तिष्क में लगातार गूँजते रहते। अंततः उन्होंने तय किया कि वे गुरु माँ से मिलने अवश्य जाएँगे। वे विधवा गुरु माँ के पास पहुँचे। जैसाकि अपेक्षित था। अब मायके व ससुराल में उस कन्या के लिए कहीं कोई जगह नहीं थी। मायकेवाले उसे ब्याहकर गंगा नहा चुके थे और ससुरालवाले उसे रखने को तैयार न थे, क्योंकि वह अपने पति को खा गई थी। अच्छी तरह जानने-समझने के बावजूद वे इस तथ्य को नहें मानना चाहते थे कि शंभुंद्रजी की उम्र हो चली थी और वे स्वाभाविक रूप से मृत्यु को प्राप्त हुए। ईश्वर ने उन्हें धैर्य से परिस्थितियों का सामना करने की सलाह दी। उनके भरण-पोषण की व्यवस्था की तथा दुखी हृदय से लौट आए। कहना न होगा कि इन घटनाओं ने युवा ईश्वर के मन में रूढ़िग्रस्त विचारधारा के विरुद्ध दबी आग को भड़का दिया।

एक बड़ा कदम

ईश्वरचंद्र विद्यासागर के हृदय में गहरी उथल-पुथल मची थी। वह विधवा-विवाह के विषय में कोई ठोस कदम उठाने के लिए व्याकुल थे। अब समाज के संभंत व प्रगतिशील युवक भी उनके साथ थे। वे सब उनकी विचारधारा से सहमत थे, किंतु किसी के भी पास कोई रणनीति नहीं थी, जिसे सही तरीके से क्रियान्वित किया जा सके।

इस विषय में ‘तत्त्वबोधिनी’ पत्रिका ने पूरा साथ दिया। उसमें प्रगतिशील विषयों पर लेख लिखे जाते, जिन्हें आम जनता पढ़ती व चिंतन-मनन कर मानने पर विवश हो जाती।

बंगाल में बहु-विवाह प्रथा अब भी जारी थी और किसी एक वृद्ध महाशय की मृत्यु से पाँच, सात या फिर दस-बीस कन्याएँ तक विधवा हो जातीं। वे सब प्रायः तरुणियाँ होती थीं। समाज में विधवाओं की बढ़ती संख्या वास्तव में चिंता की बात थी तथा समाज के नैतिक आधार पर एक प्रश्नचिह्न लगता जा रहा था। विद्यासागरजी ने सोची-समझी योजना के तहत कदम उठाया। उन्होंने लंबे समय से चले आ रहे इस आंदोलन को नई दिशा व गति देते हुए संपूर्णता प्रदान की। उन दिनों वे संस्कृत कॉलेज के आचार्य थे। कॉलेज का कार्यभार तो अधिक था ही। साथ ही वे विधवा-विवाह के समर्थन में साक्ष्य जुटाने में भी लगे थे। कई रातों के गहन अध्ययन व तलाश के बाद उन्होंने कुछ संस्कृत श्लोक खोज निकाले, जो शात्रसम्मत दृष्टि से विधवा-विवाह को समर्थन देते थे। उन्होंने ‘पराशर संहिता’ के श्लोक को आधार बनाकर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की-

“नारदपुराण, पराशर संहिता, अग्निपुराण आदि में विधवा पुनर्विवाह के विषय में एक से विचार हैं।” उनके अनुसार-

1. पति की मृत्यु होने पर;

2. पति के अज्ञातवास लेने पर;

3. पति के संन्यास लेने पर;

4. पति के पतित होने पर या

5. नपुंसक होने पर;

हिंदू नारी का पुनर्विवाह हो सकता है।च फिर उन्होंने लिखा-घयदि पति की मृत्यु हो, उसका कोई समाचार न मिले, वह संन्यास ले ले, नपुंसक हो जाए या फिर पतित हो तो वह

हिंदू त्री पुनर्विवाह कर सकती है।

“ऐसा जान पड़ता है कि पराशर ने विधवाओं के तीन नियमों की व्यवस्था की-विवाह, ब्रह्मचर्य-पालन तथा मृतक पति के साथ जलकर नष्ट हो जाना। इनमें से तो सती प्रथा को गैर-कानूनी करार दे दिया गया है। अब कोई भी त्री अपनी पति की चिता के साथ सती नहीं हो सकती। दूसरा नियम है, ‘ब्रह्मचर्य’ तथा तीसरा है ‘विवाह’। चूँकि कलयुग में ब्रह्मचर्य का पालन कर पाना कठिन होता जा रहा है, अतः ऐसे में विवाह का विकल्प ही श्रेष्ठ जान पड़ता है। स्वयं पराशर ही इस नियम की व्यवस्था कर गए हैं तो इसके शात्रसम्मत रूप की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस प्रकार के तर्कों व व्याख्या के आधार पर ईश्वरचंद्रजी ने शोध- प्रंध तैयार किया व प्रकाशित करवाया, किंतु यह विषय इतना संवेदनशील था कि उसे सार्वजनिक रूप से वितरित करने से पूर्व उन्होंने माता-पिता की आज्ञा ले लेना ठीक समझा। उन्होंने पिता से कहा, “बाबा! मैंने हिंदू विधवा पुनर्विवाह के संबंध में यह पुस्तिका तैयार की है, जिसमें संस्कृत श्लोकों को आधार बनाकर विधवा-विवाह को समर्थन दिया गया है।”

पिता ने पूछा, “यदि मैंने इसे वितरित करने की हामी न दी तो क्या करोगे?”

“जब तक आप इस संसार में हैं, मैं इस कार्य को नहीं करूँगा, किंतु आपके जाने के बाद समाज सुधार का बीड़ा फिर से उठाऊँगा व विधवाओं को पुनर्विवाह का कानूनी अधिकार दिलाकर रहूँगा।”

ईश्वरचंद्रजी के बाबा ने पूरे आलेख को ध्यान से पढ़ा फिर बोले, “तुम्हारा एक-एक शब्द अक्षरशः शात्रसम्मत है। अतः मुझे इस कार्य से कोई आपत्ति नहीं। मेरे आशीर्वाद के साथ निस्कोंच आगे बढ़ो।”

अभी भी विद्यासागरजी का कर्तव्य पूरा नहीं हुआ था। वे उस पुस्तिका के साथ माँ के पास गए व कहा, “माँ मैंने विधवा-विवाह के समर्थन में यह पुस्तिका लिखी है, किंतु इसे वितरित करने से पूर्व आपकी आज्ञा चाहता हूँ।”

माँ ने कहा-

“पुत्र! निश्चय ही तुमने समाज की इस कुप्रथा को जड़ से उखाड़ने के लिए सराहनीय कदम उठाया है। हिंदू विधवाएँ सदियों से समाज की उपेक्षा, प्रंचना व अपमान सहती आ रही हैं। उनके लिए कुछ करना तो वास्तव में पुण्य कार्य होगा। तुम्हें समाज को यह स्मरण कराना होगा कि वे त्रियाँ भी समाज का आवश्यक अंग बनकर देश, समाज व जाति के कल्याण में अपना योगदान दे सकती हैं, किंतु मुझे तुम्हारे पिता की ओर से थोड़ा भय है। यदि उन्होंने स्वीकृति न दी तो?”

ईश्वरचंद्रजी बोले, “माँ! वे तो पहले ही इस पुनीत कार्य के लिए मुझे अपना आशीर्वाद दे

चुके हैं।”

“फिर तो दुगने उत्साह से समाज-सुधार में प्रवृत्त हो जाओ। ईश्वर तुम्हारे पथ की सभी बाधाएँ दूर करे!” माँ ने आशीर्वाद दिया।

माता-पिता की ओर से अनुमति मिलने पर ईश्वरचंद्रजी ने उस पुस्तिका को सार्वजनिक रूप से वितरित किया। जैसाकि अपेक्षित था कि समाज के एक निश्चित वर्ग ने इस पहल का स्वागत किया, किंतु चारों ओर से उठनेवाले विरोधों के स्वर कहीं तीव्र था। विशेषतः पंडित समाज में जबरदस्त हलचल मच गई।

विद्यासागरजी ने अपने कथन के समर्थन में बाईस पृष्ठों की एक और पुस्तिका प्रकाशित की, जिसका शीर्षक था-‘क्या विधवाओं का विवाह करना चाहिए अथवा नहीं’। पहले ही सप्ताह में इस पुस्तिका का पहला संस्करण समाप्त हो गया। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्क न केवल प्रामाणिक थे, अपितु अकाट्य भी थे।

एकला चलो रे

उत्तरी कलकत्ता के राजा राधाकांत देव का हिंदू समाज पर गहरा प्रभाव था, साथ ही वे सरकार से भी संपर्क रखते थे। विद्यासागरजी ने विधवा-पुनर्विवाह के विषय में तैयार की गई पुस्तिका उन्हें भी भेजी। निस्देंह राजाजी ने पुस्तिका का स्वागत किया, किंतु उन्होंने उसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में असमर्थता व्यक्त की और कहा, “मैं एक सांसारिक व्यक्ति होने के नाते संस्कृत शात्रों की गहन जानकारी नहीं रखता।” अतः मुझे इस विषय में चर्चा का कोई अधिकार नहीं । यदि विद्यासागर चाहें तो मैं विद्वान् पंडितों का सम्मेलन अवश्य आयोजित कर सकता हूँ।

विद्यासागरजी की सहमति मिलने पर उन्हेंने मेदिनीपुर, भारपाड़ा, राधानगर, कृष्णनगर, नवद्वीप धाम आदि विविध स्थानों के विद्वान्-मर्मज्ञों को चर्चा के लिए आमंत्रित किया। पहले ही दिन शात्रार्थ में ईश्वरचंद्रजी ने दिग्गज पंडितों को अपने तर्क़ों से पराजित कर दिया। वे सफलतापूर्वक अपना तर्वQ प्रस्तुत कर सके, राजा राधाकांत देव उनकी योग्यता व विद्वत्ता से इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें शॉल व नारियल भेंट कर सम्मानित किया। ईश्वरजी के इस सम्मान की चर्चा चारों ओर फैल गई व लोगों को लगा कि राजा राधाकांत भी हिंदू विधवा-विवाह को समर्थन दे रहे हैं। उन्होंने ईश्वरचंद्रजी के प्रभाव में आकर अपनी मानसिकता बदल दी है।

वे दल-बल सहित राजाजी के यहा जा पहुँचे तथा अपने संदेह का निराकरण करना चाहा। लोगों ने साफ तौर पर जानना चाहा कि यदि वे विधवा- विवाह के प्रस्ताव के पक्ष में नहीं तो विद्यासागर को सम्मानित क्यों किया गया? राजा ने कहा, “ईश्वरचंद्र विद्यासागर को उनके अकाट्य तर्क़ों व विद्वत्ता के लिए सम्मानित किया गया। कृपया!” उन्हें पुरस्कृत करने का यह अर्थ कदापि न लगाया जाए कि मैं भी विधवा-विवाह की मुहिम में शामिल हूँ।

समाज में फैली इस गलतफहमी को दूर करने के लिए पुनः विद्वत्-मंडली को निमंत्रित किया गया। इस बार सभा में नवद्वीप धाम के विख्यात संस्कृत-शात्र मर्मज्ञ पंडित ब्रजनाथ विद्यारत्न भी प्रधारे, जो पहली सभा में किसी कारणवश नहीं आ सके थे। पंडित समुदाय जानता था कि यदि पंडित विद्यारत्नजी ईश्वरचंद्रजी से शात्रार्थ करेंगे तो संभवतः वे भी उनकी दलीलों के आगे टिक नहीं सकेंगे। अतः उन्होंने राजाजी से कहा, “इस सभा में ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी को बुलाने का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि उन्होंने गत सम्मेलन में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, हमें उन्हें पर विचार करना है।”

राजाजी कुछ न बोले और जैसाकि पहले से तय था। पंडित सरसजी ने सभा की अध्यक्षता

में विद्यासागरजी के सभी तर्कों को निरस्त कर दिया व राजाजी को पुनः यह मानने पर विवश कर दिया कि विधवा के विवाह के विषय में सोचना भी पाप होगा। इस बार उन्होंने पुरस्कार में शॉल व नारियल पाया। इस प्रकार यह सभा समाप्त हुई।

पंडितजी के सम्मान का समाचार विद्यासागरजी तक पहुँचा तो वे मन-ही-मन राजा से रुष्ट भी हुए और तय किया कि यदि कोई साथ नहीं देता तो वे अकेले ही अपने अभियान को आगे बढ़ाएँगे। उन्होंने 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका के माध्यम से पंडित ब्रजनाथ व अन्य विद्वानों को शात्रार्थ की चुनौती दी, किंतु किसी ने भी उनके इस व्यक्तिगत अनुरोध का प्रत्युत्तर न दिया।

तत्कालीन हिंदू समाज दो वर्गों में बँटा था। एक प्रगतिशील वर्ग था तो दूसरा रूढ़िवादी। रूढ़िवादी समाज ने विधवा विवाह के विरोध में अनेक याचिकाएँ निकालीं। धर्मसभा व हिंदूरक्षिणी धर्मसभा जैसी संस्थाएँ भला शांत कैसे रहतीं। उन्होंने भी विरोध-पत्र निकलवाए। एक प्रकार से आरोपों-प्रत्यारोपों का दौर चल पड़ा। इसका और कुछ फल चाहे न मिला हो, किंतु विधवा-विवाह आंदोलन की जानकारी गाँव-गाँव तक जा पहुँची। कहते हैं कि प्रत्येक बुराई में भी कोई-न-कोई अच्छाई अवश्य छिपी होती है। यहाँ यही कहावत चरितार्थ हुई। यहाँ तक कि गाँव-देहात के अपढ़ किसान भी इस विषय में मतामत व्यक्त करने लगे।

इस विषय पर गीत, किस्से व कहानियाँ लिखे गए। बांग्ला साहित्य का भंडार समृद्ध हुआ। विद्यासागरजी ने शांत व मर्यादित स्वर में विरोधियों की दलीलों का खंडन किया, किंतु वहाँ शिष्ट भाषा सुनने की फुरसत किसे थी। हर कोई अपना ही राग अलाप रहा था। इसके बाद विद्यासागरजी ने 4 अक्तूबर, 1855 को भारत सरकार के पास एक याचिका भेजी, जिसमें माँग की गई थी कि विधवा-विवाह के पक्ष में कानून बनाया जाए। इस पर तकरीबन 1000 व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। यह याचिका भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध है। इसमें लिखा था-

सेवा में

डब्ल्यू. मोर्गन, स्क्वायर,

क्लर्क, भारतीय विधान परिषद्

महोदय,

मैं इस पत्र सहित बंगाल प्रंत के कुछ हिंदू निवासियों की याचिका भी संलग्न कर रहा हूँ। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप इसे अगले अधिवेशन में परिषद् के आगे प्रस्तुत करके हमें कृतार्थ करें।

संस्कृत कॉलेज कलकत्ता

4 अक्तूबर, 1855

आपका आज्ञाकारी

ईश्वरचंद्र

याचिका के कुछ अनुच्छेदों का भावार्थ इस प्रकार है-

“विधानमंडल का कर्तव्य बनता है कि वह इस सामाजिक कुप्रथा को समाप्त करने की राह में आनेवाली कानूनी बाधाएँ दूर करे।”

इस कुप्रथा को मिटाने की राह में आनेवाली कानूनी बाधाएँ दूर करने से किसी भी रूढ़िवादी हिंदू की भावना को ठेस नहीं लगेगी। यद्यपि वे लोग व्यथित होंगे, जो विधवा-विवाह की मनाही को शात्रसम्मत मानते हैं।

संसार के किसी भी देश में ऐसे विवाहों की न तो कानूनन पाबंदी है और न ही मनाही की कोई प्रथा है। ये विवाह अस्वाभाविक भी नहीं हैं। हम प्रार्थना करते हैं किपरिषद् इस विषय में कानून बनाए तथा विधवा-विवाह से उत्पन्न होनेवाली संतान को कानूनन मान्यता मिले।च

17 नवंबर, 1855 को परिषद् के सदस्य जे.पी. ग्रंट द्वारा विधान परिषद् में विधेयक का प्रारूप दिया गया। इस विधेयक के विधान परिषद् में आते ही जबरदस्त खलबली मच गई, फिर यह विषय बंगाल तक ही सीमित न रहा। पुणे, अहमदाबाद, सूरत, त्रिचूर व सतारा आदि अनेक स्थानों से पक्ष तथा विपक्ष में मत सामने आने लगे। भारत सरकार के पास ऐसी याचिकाओं का अंबार लगने लगा, जिसमें से कुछ इस प्रस्ताव का समर्थन करती थीं तो कुछ इसके विरोध में थीं।

ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी द्वारा चलाया गया यह आंदोलन अपनी चरम सीमा पर था। अब केवल उनके समर्थक नहीं, बल्कि देश के कई बुद्धिजीवी तथा धार्मिक समुदाय भी इस विषय में विचार कर रहे थे।

एक याचिका के अनुसार-

“प्रस्तावित कानून के ब्योरे में जाना तो अनावश्यक जान पड़ता है। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जिस सिद्धांत पर यह प्रस्ताव आधारित है, हम उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारते हैं तथा अनुरोध करते हैं कि विधानमंडल हिंदू-विधवा के पुनर्विवाह संबंधी बाधाएँ दूर करे।”

त्रिपुरा, 12 जनवरी, 1856

दूसरी याचिका में लिखा था-

“हमें नहीं लगता कि कानूनी पाबंदिया दूर होने के बाद भी प्रथा का शीघ अंत होगा। ज्ञान के उचित प्रचार-प्रसार व समाज-सुधार के प्रयत्नों से ही इस प्रथा को सुधार सकते हैं।”

पक्ष-विपक्ष के अतिरिक्त कुछ याचिकाएँ तीसरी ही बात कह रही थीं। उनका मानना था कि ब्रिटिश सरकार को भारत की पारंपारिक व धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है।

इस दौड़ में बेशक विद्यासागरजी के समर्थकों की संख्या तेजी से घटी। तकरीबन लोग विरोध में ही थे। देश के दूसरे हिस्सों में चाहे समर्थन के स्वर आए हों, किंतु बंगाल में विरोधियों की संख्या अधिक थी। उदाहरण के लिए राजा राधाकांत देवजी के नेतृत्व में जो विरोध याचिका भेजी गई, उस पर तकरीबन 37,000 व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे।

किंतु हमारे कथानायक का यह आंतरिक गुण था कि चुनौती जितनी बड़ी होती जाती है, उनका मनोबल व संकल्पशक्ति उतनी ही दृढ़ होती जाती है। उन्होंने मन-ही-मन ठान लिया था कि चाहे जो हो जाए, वे कदम पीछे नहीं हटाएँगे।

इसी परिप्रेक्ष्य में हमें 'डेरोजियंस' की भी चर्चा करनी होगी। एच.एल. वी. डेरोजियों के शिष्य ही डेरोजियंस कहलाते थे। ये लोग सामाजिक सुधार के उत्कट आग्रही थे। 1827 के आसपास इस नई विचारधारा ने बंगाल के अनेक नवयुवकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। वे लोग कट्टरपंथी धर्मों व धारणाओं के विरोधी थे। कालांतर में उन्होंने त्री-शिक्षा के कार्यों में भी काफी दिलचस्पी ली। वर्षों से समाज के सुधार के लिए प्रयत्नशील डेरोजियंस ने यहाँ भी अहम भूमिका निभाई।

उनकी अंग्रेजी पत्रिका 'इंक्वायट्र' व बँगला पत्रिका 'ज्ञानान्वेषण' में प्रायः विधवा-विवाह में आलेख प्रकाशित होते रहते। अंग्रेजी व बँगला पत्रिका 'स्पेक्टेटर' भी जनमत तैयार करने में अग्रणी रही, किंतु जब याचिका भेजने का प्रश्न आया तो डेरोजियंस एक नए तथ्य के साथ सामने आए।

उन दिनों बंगाल में प्यारेचंद मित्र, रसिक कृष्ण मलिक व राधानाथ सिकंदर आदि प्रमुख डेरोजियंस थे। वे विधवा-विवाह के समर्थन में तो थे, किंतु यह भी चाहते थे कि विधेयक में कुछ संशोधन भी किए जाएँ। उनका कहना था कि विधेयक में वैध विधवा-विवाह की परिभाषा दी जानी चाहिए, ताकि ऐसा न हो कि आनेवाले समय में विविध रीति-रिवाजों व रस्मों से किए गए विधवा-विवाहों के झगड़े अदालतों की शोभा बनें।

वे चाहते थे कि विवाह से पूर्व दो घोषणा-पत्रों पर हस्ताक्षर करें। जिनका प्रारूप कुछ इस तरह था-

घोषणा

मैं...कुँवारा अथवा विधुर मैं अविवाहिता अथवा विधवा संयुक्त रूप से अथवा अलग-अलग यह घोषणा करते हैं कि हमने स्वेच्छा व सहमति से आज के दिन...परस्पर विवाह किया है।

हस्ताक्षर

राजीनामा

“मैंने...आज के दिन को अपनी विवाहित के रूप में सहज किया है तथा उसके जीवनकाल में दूसरा विवाह न करने के लिए बाध्य हूँ। यदि मेरी ओर से इस वैवाहिक बंधन का उल्लंघन हुआ तो मैं इसके विवाह के दिन कंपनी के रुपयों में...की रकम उसे अदा करने के लिए बाध्य हूँ।”

हस्ताक्षर

26 जुलाई, 1856 को विधवा-विवाह अधिनियम की बहस में इस संशोधन को नहीं लिया गया। हालँकि इसे 1872 के सिविल विवाह अधिनियम में शामिल किया गया।

अब हम अपने मूल मुद्दे पर आते हैं। अंग्रेज सरकार इतनी आसानी से कोई निर्णय नहीं ले पा रही थी, क्योंकि पक्ष व विपक्ष दोनों ही याचिकाओं के तर्क व प्रयास काफी ठोस व गंभीर थे। उन दिनों अदालतों में जज पंडित भी होते थे। देश के सभी प्रमुख जज पंडितों से सरकार ने राय जाननी चाही। उन्हें भी विद्यासागरजी के प्रस्ताव में कोई कमी नहीं लगी, किंतु रूढ़िवादी समाज से टकराने का साहस न था। अतः उन्होंने कहा, “ईश्वरचंदजी की याचिका से हिंदू समाज व धर्म को ठेस न लगे।”

अंग्रेज सरकार ने दोनों को अपनी दलीलें देने का अवसर दिया। निस्देंह विपक्ष की ओर से दी जानेवाली दलीलों की संख्या अधिक थी व प्रभावशाली व्यक्तियों का भी साथ था, किंतु ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने सभी तर्कों को निरस्त कर दिया।

26 जुलाई, 1856 को विधवा-विवाह अधिनियम पारित कर दिया गया। इसे इसलिए बनाया गया था कि हिंदू विधवाओं की राह में आनेवाली सभी कानूनी अड़चनें दूर हो सकें। इस अधिनियम में घोषणा की गई थी कि विधवा-विवाह से उत्पन्न संतान को भी बाकायदा जायज माना जाएगा।

यह विद्यासागरजी के उत्कट साहस व दृढ़-संकल्प शक्ति की जीत थी। अब तक सामाजिक हस्तक्षेप के भय से शांत रहनेवाली सरकार ने भी उनका पूरा साथ दिया। देश के प्रगतिशील तथा बौद्धिक वर्ग के लिए यह किसी सुसमाचार से कम न था। यद्यपि रूढ़िवादी व कट्टर समुदाय आगे की कुटिल योजनाओं में व्यस्त थे, किंतु इससे पंडित विद्यासागरजी के जीवन पर कोई असर नहीं पड़नेवाला था।

इसी संदर्भ में एक प्रंग स्मरण करना है। कहते हैं कि जब यह अधिनियम पारित हुआ तो विद्यासागरजी अपने एक मित्र रामप्रसाद राय को पहले विधवा-विवाह में उपस्थित होने का निमंत्रण देने गए तथा विवाह-कोष में दान देने का आग्रह भी किया। रामप्रसाद राय कोई और नहीं, महापुरुष राजा राममोहन राम के सबसे छोटे सुपुत्र थे। वही राजा राममोहन राय, जिन्हें सती प्रथा उन्मूलन के लिए जानते हैं।

रामप्रसाद राय ने विद्यासागरजी से कहा, “निस्देंह मैं विधवा-विवाह को समर्थन देता हूँ। विवाह-कोष के लिए दान भी दूँगा, किंतु यदि वहाँ न जा पाऊँ तो बुरा न मानेंगे।”

विद्यासागरजी उसी समय जान गए कि रामप्रसाद राय विधवा-विवाह में सार्वजनिक रूप से उपस्थित होने का साहस नहीं रखते। राजा राममोहन राय के सुपुत्र व ऐसी कायरता! उन्होंने दीवार पर टँगी राजा राममोहन राय की तसवीर की ओर संकेत कर कहा, “इस चित्र को यहाँ टाँगना व्यर्थ है। इसे बाहर फेंक दो।” उस दिन के बाद वे पुनः रामप्रसाद राय से नहीं मिले।

पहला विधवा-विवाह

हिंदू विधवाओं के पुनर्विवाह संबंधी अधिनियम पारित होने पर खूब हो-हल्ला मचा। निस्देंह कानूनी मान्यता तो मिल गई थी, किंतु सामाजिक स्तर पर अभी यह कार्य परिणत नहीं हो सका था। रूढ़िग्रस्त समाज नहीं चाहता था कि विद्यासागरजी इस कार्य में सामाजिक रूप से सफल हों। विद्यासागरजे ने झुकना भला कब सीखा था। उन्हें लगा कि गरम लोहे पर चोट करने से ही कोई हल निकलेगा।

अधिनियम का यथार्थ रूप में क्रियान्वयन होने के लिए किसी हिंदू विधवा का विवाह करवाना अनिवार्य था, ताकि दुनिया जान ले कि हिंदू विधवा-विवाह कोरी कागजी कार्यवाही नहीं है।

इसी संदर्भ में उन्होंने अपने मित्र राधाकृष्ण बनर्जी का ध्यान आया। बनर्जी की पुत्री 8 वर्ष की आयु में ही विधवा होकर मायके लौट आई थी। बनर्जी प्रायः ईश्‍वरचंद्रजी के सामने पुत्री के भविष्य की चिंता प्रकट करते, क्योंकि घर में भाई-भावज भी पुत्री के प्रतिकूल थे।

एक दिन ईश्‍वरचंद्र उनके पास जा पहुँचे। बनर्जी ने आवभगत की व पूछा, “आज आप किसी विशेष प्रयोजन से आए जान पड़ते हैं। जो भी मन में हो, निस्कोंच कहें।”

घमित्र! कारण तो विशेष ही है, किंतु आपकी अप्रसन्नता का भय भी है।” ईश्‍वरचंद्रजी ने कहा, “नहीं-नहीं, आप निस्कोंच कहें। इतना तो विश्‍वास है कि आप जो भी कहेंगे, वह हमारे हित में ही होगा।च बनर्जी ने आश्‍वस्त किया।”

ईश्‍वरचंद्रजी बोले, “मैं कहना चाहता हूँ कि हमें भली-भाँति बिटिया के भविष्य के बारे में कुछ सोचना चाहिए। उसका तो पूरा जीवन सामने पड़ा है।” बनर्जी ईश्‍वरचंद्रजी का आशय भाँपकर बोले, “मित्र!” मैंने यदि ऐसा कोई कदम उठाया तो समाज से बहिष्कृत कर दिया जाऊँगा।

“तो क्या निष्कासन के भय से पुत्री का हित-चिंतन नहीं करेंगे। यदि आप न रहे तो यह समाज उसका ध्यान रखेगा।” ईश्‍वरचंद्रजी के प्रश्नों का उनके पास कोई उत्तर न था, फिर कुछ देर सोचकर बोले, घईश्‍वरचंद्रजी, क्या कोई ऐसा महान् व्यक्ति होगा, जो मेरी विधवा पुत्री को फिर से अपना सके।

“हाँ-हाँ! क्यों नहीं। वर संधान का उत्तरदायित्व मैं लेता हूँ।” ईश्‍वरचंद्रजी ने उन्हें मानसिक रूप से पुत्री के विवाह के लिए तैयार कर लौट आए।

इन परिस्थितियों में उन्हें अपने मित्र शिरीषचंद्र विद्यारत्न का स्मरण हो आया। वे जिला 24 परगना के खाँतुरा गाँव के रामधन तर्कवागीशजी के सुपुत्र थे। वे अधेड़ आयु के अविवाहित युवक थे। उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह की मुहिम में ईश्वरचंद्रजी का पूरा साथ दिया था। अतः ईश्वरचंद्रजी को सामाजिक रूप से इस अधिनियम को लागू करने में वे सहायक होंगे।

पहले-पहल तो शिरीषचंद्र मान गया, किंतु जब समाज के ठेकेदारों ने अपना रौद्र रूप दिखाया तो वह अपने वचन से पलट गया। विद्यासागरजी ने उसे पुनः समझाया-बुझाया व इस पुनीत कार्य के लिए तैयार कर लिया। तत्कालीन समाचार-पत्रों के अनुसार यह विवाह काफी लोगों में चर्चा का विषय रहा।

राधाकृष्ण बनर्जी के यहाँ उत्तरी कलकत्ता की सुकिया स्ट्रीट में विवाह- संस्कार संपन्न हुआ। इस अवसर पर प्यारेचंद्र मित्र, काली प्रसन्न सिन्हा, विद्यासागरजी के सुपुत्र, गौरीशंकर भट्टाचारी, रामगोपाल घोष, दिगंबर मित्रा आदि अनेक महान् हस्तियाँ उपस्थित थीं।

उस अद्भुत व विचित्र पाणिग्रहण संस्कार का साक्षी बनने को अनेक व्यक्ति उत्सुक थे। विद्यासागरजी स्वयं बारात के आगे-आगे चल रहे थे। इस विषय में शिवनाथ शात्रीजी लिखते हैं, “1856 में, सरदियों का मौसम था। राधाकृष्णन बनर्जी के यहाँ पहला विधवा विवाह संपन्न हुआ तो देखने लायक हाल था। जब विद्यासागर महाशय दूलहे के साथ बड़ी बारात लेकर पहुँचे तो दर्शकों की संख्या का ठिकाना नहीं था। गली-कूचों में पाँव धरने की जगह नहीं थी। कई व्यक्ति तो गली के आसपास बनी नालियों में भी गिरे। विवाह संपन्न होने के पश्चात् गली-कूचों, दुकानों, बाजारों, छात्रावासों, गाँवों व शहरों आदि में इसकी भारी चर्चा हुई। सुदूर गाँवों में भी यह हर घर में त्रियों की आपसी चर्चा का विषय बन गया था।”

विद्यासागरजी ने ही दोनों पक्षों की ओर से पौरोहित्य कर्म निभाया, क्योंकि पंडे-पुजारियों ने विधवा का विवाह संपन्न कराने से इनकार कर दिया था। उस समय के एक प्रमुख समाचार-पत्र के अनुसार बारात निकलते समय भीड़ इतनी अधिक थी कि उन्हें पुलिस की सहायता लेनी पड़ी। वे स्वयं दूलहे की पालकी के साथ-साथ थे, ताकि वर की सुरक्षा का प्रंध हो सके। उस दिन यह भी भय था कि रूढ़िवादी खेमे के लोग रंग में भंग डालने का प्रयास न करें।

इस विवाह के अगले ही दिन दूसरा विधवा-विवाह संपन्न हुआ। वर-वधू कुलीन थे तथा ऊँची जाति के कायस्थ परिवारों से संबंध रखते थे। अपने चिरवांछित सपने को साकार होते देख विद्यासागरजी बेहद प्रसन्न थे। इस विषय में ‘तत्त्वबोधिनी’ पत्रिका ने लिखा-घहम अपने देश में विधवा-विवाह की ऐसी प्रगति देखकर बेहद प्रसन्न हैं। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ चाह हो, वहाँ राह होनी है। चाहे कैसी भी बाधाएँ क्यों न आएँ, शुभ कार्य की प्रगति को कोई नहीं रोक सकता। विद्यासागरजी विशेष रूप से इस महती कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि समाज की विरासत का संरक्षक होने का

दावा करनेवाले व्यक्ति पीड़ित समाज की जीर्ण रोगावस्था में सुधार होने पर दुखी होते हैं।

इस प्रकार 'संवाद भास्कर' व 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका जैसे पत्र लगातार विधवा-विवाह के समर्थक बने रहे और विद्यासागरजी के प्रयत्नों को प्रोत्साहित करते रहे।

ब्रह्म समाज आंदोलन के प्रमुख नेता राज नारायण बोसजी के परिवार में दो विधवा-विवाह हुए। यह विवाह उनके दोनों भाइयों दुर्गा नारायण बोस व मदनमोहन बोस द्वारा किए गए। हालाँकि इन विवाहों के बाद भी समाज के आक्रोश का सामना करना पड़ा, किंतु समाज-सुधार के इच्छुकों ने अपनी टेक नहीं छोड़ी।

विद्यासागरजी के अपने पुत्र नारायण ने एक विधवा से विवाह किया तो वे बहुत प्रसन्न हुए। इस अवसर पर उन्होंने अपने भाई शंभुंद्र को जो पत्र लिखा। उसका भाषांतर प्रस्तुत है। उसे पढ़कर ही पाठकगण जान सकते हैं कि विधवा-विवाह के इस पुनीत कार्य के प्रति उनके मन में कितना स्नेह व उत्कट लगाव था। यद्यपि परिवार के कुछ सदस्यों का विरोध भी सामने आया, किंतु उन्होंने एक न सुनी। उन्होंने पत्र में लिखा-

"पिछले गुरुवार नारायण का विवाह भावसुंदरी के साथ संपन्न हुआ। माँ को इस विषय में बता देना। तुमने मुझे पिछले पत्र में लिखा था कि यदि नारायण का विवाह भावसुंदरी के साथ किया गया तो नाते-रिश्तेदारो हमसे संबंध तोड़ लेंगे।" अतः अक्लमंदी इसी में होगी कि हम यह विवाह न करें। मुझे इस संबंध में केवल तुमसे यही कहना है कि भावसुंदरी से विवाह का निर्णय नारायण ने स्वयं लिया था। न तो मैंने उसे यह करने का परामर्श दिया था और न ही उसने मेरी राय माँगी थी। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि उसने स्वयं यह निर्णय लिया। यह निर्णय मुझे मान देने या किसी के दबाव में आकर नहीं लिया। मैं उसकी राह में बाधा कैसे बनता। मैंने तो स्वयं विधवा-विवाह को प्रचलित करने में सहायता दी है। यदि मैं ही अपने पुत्र को विधवा-विवाह को प्रचलित करने से मना करता तो क्या समाज को अपना मुँह दिखा पाता। ऐसी अवस्था में स्वयं ही मेरा सिर लज्जा से झुक जाता।

"नारायण ने विधवा से विवाह कर मेरा मान बढ़ाया है। उसने स्वयं को पिता का योग्य पुत्र साबित कर दिया है। विधवा का विवाह करवाना मेरे जीवन की बड़ी उपलब्धियों में से एक है। मुझे नहीं लगता कि मैं जीवन में इससे श्रेष्ठ कोई कार्य कर पाऊँगा। मैंने पूरे तन-मन से इस उद्देश्य के लिए कार्य किया है।" संबंधियों व रिश्तेदारों की धमकियों का मुझ पर कोई असर नहीं पड़नेवाला। यदि वे मुझे जाति-बिरादरी से निष्कासित भी कर देंगे तो भी मैं पीछे नहीं हटनेवाला। मैं किसी भी कुप्रथा का दास कभी नहीं रहा। निस्देंह अपने पुत्र के इस कृत्य से मुझे प्रोत्साहन मिला है। तुम निश्ंचित रहो, मैं कहीं भी हार माननेवालों में से नहीं हूँ।

"मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जो नाते-रिश्तेदार मेरा सामाजिक बहिष्कार करना चाहें, उन्हें ऐसा करने का पूरा हक है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक व अंतःकरण के अनुसार चलने की इजाजत मिलनी चाहिए। इसके साथ ही उन पर यह भी पाबंदी होनी

चाहिए कि वे अपनी इच्छाएँ तथा अपेक्षाएँ दूसरों पर न लादें।”

शिवनाथ शात्रीजी के संस्मरणों से पता चलता है कि विद्यासागरजी प्रत्येक विधवा-विवाह में भरसक सहायता देने का प्रयत्न करते। एक स्थान पर वे लिखते हैं-

“1868 में मेरे एक सहपाठी स्वर्गीय पंडित योगेंद्रनाथ विद्याभूषण की पहली पत्नी का देहांत हो गया। मित्र व संबंधी चाहते थे कि वे दूसरा विवाह कर लें। उन्होंने मुझसे पूछा कि ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए। उन दिनों हम विधवा-विवाह आंदालेन में जी-जान से जुटे थे। अंततः यही तय किया गया कि किसी विधवा से ही विवाह किया जाए। शीघ ही एक योग्य पात्री भी मिल गई। विद्यासागरजी से मदद माँगी तो उन्होंने न केवल पुरोहित की व्यवस्था की, बल्कि विवाह के लिए जरूरी सामान व धन का भी प्रंध किया। वर-वधू को अमूल्य भें ट देने के अतिरिक्त दावत का व्यय भी स्वयं वहन किया।”

इसके बाद शात्रीजी लिखते हैं कि विधवा से विवाह करनेवाले मित्र का समाज ने बहिष्कार कर दिया। सभी संबंधियों ने साथ छोड़ दिया। वे अपने मित्र के पास रहने लगे। ऐसी हालत में विद्यासागरजी सच्चे समर्थक बनकर डटे रहे। वे प्रायः उनके घर जाते। मनोविनोद से उनका मन बहलाने की चेष्टा करते।

अनेक बाल व तरुण हिंदू विधवाओं ने इस आंदोलन के बाद अपने जीवन में एक नए सुनहरे वातावरण में कदम रखा। उनके सूने जीवन में खुशियाँ लौट आइऔ। अब वे भी समाज का एक अंग बनकर प्रसन्नतापूर्वक जी सकती थीं, अपनी नई गृहस्थी जमा सकती थीं। और इन सबके पीछे एक ही व्यक्ति का प्रमुख योगदान रहा था। वे थे पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर।

अगले अध्याय में पाठक जानेंगे कि विद्यासागरजी के लिए यह मुहिम चलाना कितना दुष्कर रहा होगा। समाज से कितने लांछन व प्रताड़ना सहनी पड़ी होगी, किंतु क्या वे कभी किसी भी बाधा के आगे झुके?

विधवा-विवाहः बाधाएँ व अड़चनें

विद्यासागर अमर रहें
जिन्होंने सरकार से माँग की
कि विधवा-विवाह आरंभ हो।
हम हैं उस दिन की प्रतीक्षा में
जब बन जाएगा कानून
और सभी जिलों व पूरे देश में
चले जाएँगे आदेश।
फिर विधवा का पुनर्विवाह
प्रतिष्ठापूर्वक मनाया जाएगा।

शांतिपुर में बुनकर जो साड़ियाँ बुनते थे, उन्हेंने साड़ियों के किनारों पर विद्यासागरजी की प्रशंसा में गीत बनाने शुरू कर दिए। ऊपर ऐसे ही एक पद्य का भावानुवाद दिया गया है। निस्देंह यह एक अद्भुत कदम था। इस प्रयास के फलस्वरूप विद्यासागरजी की सुकीर्ति चारों दिशाओं में तेजी से फैली, किंतु क्या सिक्के का केवल एक ही पक्ष होता है। क्या जीवन में फूल माला, प्रशस्ति-पत्र व प्रशंसात्मक वाक्य ही मिलते हैं। समाज की चिरपुरातन प्रथाओं में से किसी एक कुप्रथा का विरोध व उन्मूलन केवल प्रशंसा व यशोगान ही लाया। जी नहीं, विद्यासागरजी ने घोर विरोध का भी सामना किया। लोगों के ताने सहे, घृणा के पात्र बने, यहाँ तक कि शारीरिक हिंसा को भी सहन किया।

निस्देंह समाज का प्रगतिशील वर्ग उनके साथ था, किंतु किसी भी जनांदोलन को सफल बनाने के लिए आम जनता को भी साथ लेकर चलना बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

कुछ समय तक तो परिस्थितियाँ इतनी विकट रहीं कि जब भी विद्यासागरजी घर से निकलते तो लोग उन पर व्यंग्यबाण चलाते। उन पर पत्थर फेंके जाते। कई व्यक्ति तो मार-पीट पर भी उतर आते। कहना न होगा कि जहां एक ओर समाज का पढ़ा-लिखा प्रगतिशील वर्ग अपने पूरे समर्थन के साथ उनके साथ खड़ा था, वहीं दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त समाज के ठेकेदारों ने इसे अपने मान का विषय बना लिया था। ये व्यक्ति ओछी से ओछी हरकतों से भी बाज नहीं आते थे।

एक बार विद्यासागरजी किसी परिचित हिंदू के यहाँ पहुँचे। वह व्यक्ति समाज के धनी-

मानी वर्ग से था। उसके चारों ओर चाटुकारों की महफिल सजी थी। विद्यासागरजी एक कोने में खड़े हो गए। पता चला कि वहाँ तो उन्हीं का सिर फोड़ने का षत्रं चल रहा था। वह धनी व्यक्ति अपने चाटुकारों को बता रहा था कि उसने कुछ गुंडों को पैसे देकर विद्यासागरजी के पीछे लगा रखा है, ताकि वे उन्हें देखते ही सिर फोड़ दें।

विद्यासागरजी ने अविचल भाव से सबकुछ सुना। और उस व्यक्ति के सामने जा खड़े हुए। उन्हें देखते ही वह परिचित बौखला गया।

“तू...आप-आप यहाँ कैसे?” बड़ी विचित्र परिस्थिति थी। जिसे मारने की योजनाएँ बन रही थीं बड़ी-बड़ी डींगें हाँकी जा रही थीं, उसी की उपस्थिति में किसी के मुँह से बोल तक नहीं फूट पा रहा था।

उस व्यक्ति के सहयोगी तो शर्म के मारे जमीन में ही गड़ गए। विद्यासागरजी बोले, “महाशय, मुझे पता चला है कि मुझे चोट पहुँचाने के लिए गुंडे बुलवाए गए हैं। वे मुझे खोज रहे हैं। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण किसी को असुविधा हो। अतः मैं स्वयं ही उपस्थित हो गया हूँ। आप मेरे साथ जो जी चाहे करवा दें।

षत्रंकारी के पास मुँह छिपाने के सिवा कोई रास्ता न था।

विद्यासागरजी अपने शत्रुओं से भी बड़े प्यार एवं सहज भाव से पेश आते। जब उनके पिता को इस घटना का पता चला तो उन्होंने आग्रहपूर्वक एक अंगरक्षक रखवा दिया, फिर विद्यासागरजी के साथ एक लठैत भी रहता। यद्यपि वे उसे सार्वजनिक रूप से कहीं भी नहीं ले जाते थे। यदि पिता कहते भी तो उनका उत्तर यही होता कि उनके शरीर के दुबले-पतले ढाँचे में भी बहुत ताकत है।

जिन दिनों विधवा-विवाह के आंदोलन की धूम मची थी। चारों ओर आरोप-प्रत्यारेपों का दौर चल रहा था। एक दिन स्कूल इंस्पेक्टर मि. प्राट ने पूछा, “पंडितजी!” आपने विधवा-विवाह पर जो निबंध लिखा था, उसमें निबंध के विरुद्ध सबसे अच्छा प्रतिवाद किसने किया था?

पंडितजी अपनी हास्यप्रियता से कहाँ बाज आते। उन्होंने उसी व्यक्ति का नाम ले दिया, जिसने उन्हें कड़े अपशब्द कहे थे। निंदा-भर्त्सना की थी। इंस्पेक्टर महोदय उनके इस मजाक को समझ नहीं पाए। उन्होंने तत्काल उस व्यक्ति को बुलवाया व डिप्टी-इंस्पेक्टर का पद प्रस्तावित कर दिया।

वह व्यक्ति हक्का-बक्का रह गया। उसे समझ नहें आया कि उच्च अधिकारी अचानक उस पर इतने मेहरबान कैसे हो गए? फिर उसे पता चला कि वह तो पंडितजी की मेहरबानी है। उसने जाकर विद्यासागरजी के आगे हाथ-पाँव जोड़े कि उसकी पिछली भूल इस पदोन्नति की बाधा न बन जाए। पंडितजी हँस दिए व उसे तसल्ली देकर भेजा कि उसकी पदोन्नति पर कोई आँच नहीं आएगी।

एक बार विद्यासागरजी रेल यात्रा कर रहे थे। प्रायः सफर में राजनीति व देश-समाज की ताजा घटनाएँ ही चर्चा-परिचर्चा का विषय बनती हैं। एक पंडित महाशय आसपास बैठे लोगों से विधवा-विवाह व विद्यासागरजी के विषय में चर्चा करने लगे। उन्होंने इन दोनों को दिल खोलकर खरी-खरी सुनाई। विद्यासागरजी एक भी शब्द कहे बिना सारी घटना का रस लेते रहे। सारे अपमान को नीलकंठ की भाँति गटकने की कला उन्हें बखूबी आती थी।

हावड़ा स्टेशन पर पंडितजी उतरे तो उन्हें किसी ने बताया कि वे जिसे इतनी राम कहनियाँ सुना रहे थे, वे तो स्वयं ईश्वरचंद्र विद्यासागर ही थे। सुनते ही वे पंडित महाशय चकराकर गिर पड़े। कुछ देर बाद आँख खुली तो वही विद्यासागरजी उनकी परिचर्या में जुटे थे, जिनकी सात पुश्तों का भी श्राद्ध करने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

प्रंचना का दंश

यह संसार वास्तव में वैसा नहीं है, जैसा ये दिखाई देता है। हर युग में, हर समय में, समाज अपने दोहरे चरित्र के साथ जीता है। सार्वजनिक रूप से सामने आनेवाले चेहरे का मूल चेहरे से कोई साम्य नहीं होता। बड़े-बड़े सिद्धांतों व आदर्शों की बातें करनेवाले भी प्रायः वही लोग निकलते हैं, जो अपना स्वार्थ साधने के लिए दूसरे की पीठ पर वार करने से नहीं चूकते।

विद्यासागरजी जिन महापुरुषों को समाज-सुधारक व विधवा से विवाह रचानेवाले वीर समझ रहे थे, उनमें से अधिकांश कायर व अवसरवादी निकले। कुछ समय बाद पता चला कि उन लोगों ने रुपयों के लोभ से विधवा-विवाह किए थे। उन्होंने विधवा-विवाह के समाज सुधार की आड़ में अपना उल्लू सीधा किया। स्वयं विद्यासागरजी को अपनी विशाल धनराशि से हाथ धोना पड़ा तथा कई लोगों के ऋणी भी हो गए।

हालाँकि उन्होंने विधवा-विवाह के आदर्श को देश के विभिन्न हिस्सों में फलीभूत होते देखा। देश के विभिन्न राज्यों में भी विधवा-विवाह को सामाजिक मान्यता मिलने लगी, किंतु स्वयं विद्यासागरजी अपने जीवन के अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते यह जान गए थे कि उन्हें कई लोगों ने विधवा-विवाह के नाम पर ठगा था। तथाकथित मित्र व समर्थकों ने दान देने का वचन तो दिया, किंतु हाथ पर एक पाई तक न रखी। इस प्रकार उन्हें आर्थिक कठिनाइयों से भी जूझना पड़ा। उन्होंने अनेक कटु अनुभवों का गरल पीया। विधवा-विवाह आंदोलन को सक्रिय बनाए रखने के लिए उन्होंने अनेक मित्रों से उधार व सहायता ली। उन्होंने नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी को एक पत्र लिखा था, जिससे पता चलता है कि वे कितने निराशाजनक क्षणों से गुजरे थे। पत्र का भावार्थ प्रस्तुत है-

"मैं खेद के साथ आपको सूचित करना चाहता हूँ कि भरपूर प्रयत्न करने के बावजूद मैं ऋण चुकाने के साधन नहीं खोज पा रहा हूँ। परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि मैं शीघातिशीघ ऋण अदा करने का वचन भी नहीं दे सकता। आप तो जानते ही हैं कि मैंने यह ऋण व्यक्तिगत व्यय के लिए नहीं लिया था। यह सबकुछ विधवा-विवाह पर व्यय करने के लिए था। अनेक व्यक्तियों से ऋण लिया गया, क्योंकि मुझे आशा थी कि इस पुनीत आंदोलन में हाथ बँटाने के लिए कई लोग आगे आएँगे तथा वित्तीय सहायता भी प्रदान करेंगे, किंतु किसी ने भी अपना वचन नहीं निभाया। कई भले आदमियों ने मुझे मासिक या एकमुश्त रूप में दानराशि देने का वचन दिया था। यदि उन्होंने अपने वचन का मान रखा होता तो आज मेरी यह दशा न होती।

“एक बात तो स्पष्ट है कि मुझे विधवा-विवाह आंदोलन के माध्यम से अपने देश के तथाकथित लोगों के दोहरे चरित्र को जानने का अवसर मिल गया। गलती मेरी थी कि मैंने उनकी बातें पर विश्वास किया। उनका आदर्शवाद केवल तात्कालिक वाहवाही बटोर लेने का साधन भर था। अब सहायता देना तो दूर रहा, कोई यह भी नहीं पूछता कि मैं जीवित हूँ या मर गया।”

बेशक बाद के वर्षों में विद्यासागरजी वर-वधू के संधान के समय काफी सावधानी रखने लगे। विधवा से विवाह की हामी भरनेवाले वर को पहले ही बता दिया जाता कि उसे अधिक दहेज का लोभ छोड़ना होगा। साथ ही वे यह भी पता लगाने का प्रयत्न करते कि उक्त व्यक्ति केवल धन के लोभ में विधवा-विवाह तो नहीं कर रहा। कहीं वह दहेज मिलने के बाद उस विधवा से नाता तो नहीं तोड़ लेगा या अपने वैवाहिक उत्तरदायित्वों के पालन से मुँह तो नहीं मोड़ेगा।

बाल-विवाह तथा बहुपत्नी प्रथा

"मैं अभी छोटा ही था कि पिताजी चल बसे। चाचाजी के यहाँ ही मेरा पालन-पोषण हुआ। हम काफी निर्धन थे। अतः चाचाजी के दबाव के चलते मुझे जल्दी ही विवाह करना पड़ा। घर की निर्धनता मिटाने के नाम पर मुझे आठ कन्याओ का पति बना दिया गया। हमारे परिवार में रूढ़िवादी कुलीन पितामह, पिता व चाचा आदि भी अनेक स्त्रियों के पति थे। इस पारिवारिक वातावरण के बीच मेरे मन में बाल-विवाह, बहुपत्नी प्रथा व कुलीनता के विरुद्ध घृणा होना स्वाभाविक था। मेरे अनुसार, कुलीन ब्राह्मण के विवाह का एक ही अर्थ था-'निकृष्ट प्रकार का आर्थिक साधन'। जब भी मेरे किसी नए विवाह संबंध के लिए बिचौलिए को बुलाया जाता तो मैं घर से भाग जाता। मुझे वे खोज लाते, फटकारते व नाना प्रकार से प्रताड़ित करते। विवाह के लिए जबरन तैयार किया जाता। यदि मैं स्वेच्छा से इस कार्य में प्रवृत्त होता तो शायद साल के भीतर सौ लड़कियों का पति बना दिया जाता।

"मेरे चाचाजी इस विवाह-प्रथा के संबंध में मेरे विचार जानकर असंतुष्ट रहते, इसलिए उन्होंने मुझे संयुक्त परिवार से अलग करने में देर नहीं की। मुझ पर तीन सौ रुपए के दंड का बोझ भी डाला गया, जिससे कठिनाइयाँ और भी बढ़ गइऔ। मैं पहले से आठ पत्नियों का पति था, किंतु आर्थिक रूप से सुदृढ़ होने के लिए विवाह करने के सिवा कोई उपाय नहीं दिखा तो मैंने छह स्त्रियों से विवाह करने का निर्णय लिया। बस फिर क्या था, देखते-ही-देखते सारा ऋण उतर गया व शेष घर से मैं अपनी स्वतंत्र जीविका चुन सका।"

पूर्वी बंगाल के नेता रासबिहारी मुखोपाध्याय द्वारा लिखा गया यह विवरण न केवल पाठकों के रोंगटे खड़े कर देता है, बल्कि तत्कालीन बहुपत्नी प्रथा की कटु सच्चाइयों की पोल भी खोलता है। उन्होंने विद्यासागरजी के आग्रह पर ही संक्षिप्त आत्मकथा के साथ यह वृत्तांत लिखा था, ताकि लोग इस विषय में जान सकें।

उन्होंने विद्यासागरजी के निर्देशन में ढाका में इस आंदोलन की बागडोर सँभाली। बंगाल में कुलीनवाद के कारण ऊँचे व समान कुल में विवाह की जो प्रथा आरंभ हुई, उसी ने आगे चलकर बहुपत्नी प्रथा को जन्म दिया।

विद्यासागरजी स्वयं ऊँची जाति के कुलीन घराने के ब्राह्मण थे। अतः वे इस प्रथा की बुराइयों को भली-भाँति जानते थे। उनके अनेक संबंधी भी इसी प्रथा के कारण अपने जीवन को नरक बना चुके थे, किंतु विरोध का साहस किसी में न था। पुरातन काल से चली आ रही जीर्ण-शीर्ण परंपरा का हवाला देकर ये अमानवीय कृत्य किए जाते। इसी प्रथा ने

विधवाओं की संख्या बढ़ाने में भरपूर योगदान दिया था, जिसका विधवा-पुनर्विवाह आंदोलन से सीधा संबंध था।

इस प्रथा व आंदोलन के विषय में अधिक जानकारी लेने से पहले हमें इस समस्या के मूल तक जाना होगा। कहते हैं कि जब आदिसुर बंगाल का राजा बना तो उस समय बौद्धमत का अधिक प्रचलन था तथा ब्राह्मणवाद काफी हद तक मृतप्राय हो गया था। तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग वैदिक नियमों व रिवाजों से अनभिज्ञ थे।

आदिसुर ने ही कुलीनवाद चलाया, ताकि ब्राह्मण की उच्च जातियों में रक्त की शुद्धता बनी रहे। उसने कुछ विशिष्ट ब्राह्मण परिवारों को कुलीन घोषित किया तथा इन परिवारों से बाहर होनेवाले विवाह वर्जित कर दिए गए।

आगे चलकर इस प्रथा ने नया मोड़ लिया। 'मेलबंधन' प्रथा के कारण ब्राह्मणों में बहुविवाह की प्रथा को प्रोत्साहन मिला। परिस्थितियाँ इतनी विकट हो गइऔ कि माता-पिता के पास अपनी कन्या का विवाह किसी कुलीन ब्राह्मण से करने के सिवा कोई उपाय ही नहीं था, फिर चाहे वह वधू से आयु में पचास वर्ष बड़ा हो या उसकी पहले से बारह-तेरह पत्नियाँ हों।

ऐसे कुलीन ब्राह्मण कन्या के पिता से दहेज में मनचाही रकम लेते थे। इस प्रकार परलोकगमन से पूर्व भी उन्हें आर्थिक लाभ हो जाता था। कन्या के पिता को यह चिंता कभी नहीं सताती थी कि जिस वृद्ध दामाद के पल्ले अपनी कन्या को बाँध रहा है, उस वृद्ध के मरने के बाद कन्या के भविष्य का क्या होगा। उसके शेष जीवन का उत्तरदायित्व कौन लेगा? यदि उस विधवा को मायके में आश्रय न मिला, भाई-भावजों ने न रखा तो उसकी दशा क्या होगी?

तत्कालीन बांग्ला साहित्य में हमें ऐसे अनेक कथानक व प्रंग मिलते हैं, जहाँ अंतिम साँसें गिनते बूढ़े ब्राह्मण के साथ बिटिया के फेरे करवाकर पिता गंगा नहा लेता है। कम आयु में विधवा हो चुकी युवतियाँ या तो आजीवन मायकेवालों के टुकड़ों पर पलती हैं या फिर चरित्रभष्ट होकर सामाजिक लांछन सहती हैं।

ईश्वर विद्यासागरजी ने विधवा-पुनर्विवाह आंदोलन के पश्चात् इस कुप्रथा को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने इस आंदोलन का नेतृत्व करते हुए समाज के प्रगतिशील वर्ग को भी अपने साथ लिया। उनका मानना था कि कुलीनों को भे अन्य छोटे दलितों से विवाह करने की अनुमति मिलनी चाहिए, ताकि कन्या का पिता अपनी पुत्री के लिए सुयोग्य वर चुन सके। उसके सामने चुनने के लिए विकल्प हों। उनका कहना था-

"त्रियाँ अबला हैं तथा सामाजिक ढाँचे के कारण ही पुरुषों के अधीन हैं। वे अल्प सुविधा प्राप्त तथा दलित वर्ग के लोगों की तरह दिन काटती हैं। शक्तिशाली पुरुष संप्रदाय स्वेच्छा से उन पर अत्याचार करता है तथा उन्हें दबाए रखता है। बचाव का कोई उपाय न होने के कारण वे सबकुछ सहती हैं। संसार भर में त्रियों की स्थिति कमोबेश यही है, किंतु पुरुष की

निर्दयता, स्वार्थ व मूर्खता के समानांतर कोई उदाहरण नहीं दिखता।”

उन्होंने त्री-पुरुषों को समान आधार पर वैवाहिक संबंध बनाने के लिए, बहुविवाह प्रथा पर रोक लगाने की माँग की। 27 दिसंबर, 1855 को इस प्रथा पर रोक लगाने के लिए याचिका दायर की गई। इस याचिका पर 25 हज़ार व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। इस मुहिम में नदिया के महाराजा सतीशचंद्र राय, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, राजा राजेंद्र मलिक व राजेंद्रलाल मित्र जैसी महान् विभूतियों ने हस्ताक्षर किए।

इस याचिका के एक अंश में वर्दवान के महाराज महताबचंद्र का कथन उद्धरणीय है। उन्होंने लिखा-

“...कुलीन घरानों के व्यक्ति केवल पैसे के लोभ में विवाह करते हैं। उनमें वैवाहिक कर्तव्यपालन करने की भावना लेशमात्र भी नहीं होती। इस प्रकार जिन त्रियों का विवाह केवल नाममात्र के लिए होता है, उन्हें विवाह से मिलनेवाले सुख की कोई आस नहीं होती। प्रेमपात्र के अभाव में उनके हृदय के भाव अतृप्त ही रह जाते हैं। स्नेह न मिल पाने के कारण या तो वे मन-ही-मन क्षुब्ध रहती हैं या पथभष्ट होकर अनैतिकता का आश्रय लेती हैं। यदि इस प्रथा को कानून के माध्यम से रोका जाए, तभी कोई निष्कर्ष निकल सकता है, क्योंकि यहाँ जनमत से कोई असर नहीं पड़नेवाला।”

यह आंदोलन उन दिनों आरंभ हुआ, जब अंग्रेज सरकार 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से जूझ रही थी। उस समय उसके पास किसी दूसरी समस्या पर विचार करने का समय ही नहीं था। बाद के वर्षों में आंदोलन ने फिर से सिर उठाया तो सरकार इतनी चौकन्नी हो गई थी कि भारतीय रीति-रिवाजों व परंपराओं में हस्तक्षेप कर कानून नहीं बनाना चाहती थी। बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध कोई विधेयक पेश नहीं हुआ तो कुछ ही वर्षों में पुनः एक याचिका भेजी गई। यह 1863 में 21 हजार हिंदुओं द्वारा भेजी गई थी।

1 फरवरी, 1866 को विद्यासागरजी ने फिर से एक याचिका भेजी, जिस पर 21 हज़ार लोगों के हस्ताक्षर थे। समाज के अनेक गणमान्य व्यक्ति व नेता भी इस आंदोलन में शामिल थे। याचिका में कहा गया-घयाचिका प्रस्तुत करनेवाले यह प्रार्थना व आशा करते हैं कि जब महामहिम अपना कार्यभार छोड़ें तो बंगाल की त्रियों को बहुपत्नीत्व व कुप्रथा से मुक्ति दिलाने के लिए कोई ठोस कदम अवश्य उठाएँ, यह उनके लंबे व सफल कार्यकाल की समाप्ति का सूचक होगा।

मार्च 1866 में एक प्रतिनिधिमंडल सरकार से मिलने गया, उसने अपनी याचिका पढ़कर सुनाई। तत्कालीन गवर्नर ने बड़े ध्यान से याचिका सुनी व प्रतिनिधिमंडल को आश्वस्त किया कि वे इस विषय में अवश्य ही सार्थक पहल करेंगे तथा बहुपत्नी प्रथा के विरोध में कानून बनवाने में सहायक होंगे।

हालाँकि इस आंदोलन की अवधि के दौरान ही कई बंगाली यह मानने लगे थे कि आधुनिक शिक्षा पाने के बाद जनता स्वयं ही इस कुप्रथा को समाप्त कर देगी। अतः इस विषय में कोई

भी कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है।

मार्च 1866 में 'हिन्दू पैट्रियट' ने लिखा-

"एक दशक बीत जाने के बाद महान् समाज-सुधारक पंडित ईश्‍वरचंद्र विद्यासागर के नेतृत्व में कुलीन बहु-पत्नी प्रथा की बुराइयाँ मिटाने के लिए एक नया आंदोलन आरंभ हुआ है। बंगाल क े धनी-निर्धन, पढ़े-लिखे अनपढ़ आदि सभी हिंदुओं ने उनकी अपील का समर्थन किया है। इसमें सभी विचारों तथा वर्गों के व्यक्तियों के हस्ताक्षर हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इसमें बंगाल के अनेक बड़े जमींदार भी शामिल हैं, जो कि तकरीबन आधे देश के मालिक हैं। इसमें कलकत्ता व अन्य स्थानों के निष्णात पंडितों, शात्रों के ज्ञाता व व्याख्याता, प्राचीन विद्याओं के संरक्षक, शिक्षित समाज के विख्यात नेता व पुनर्गठित ब्राह्मण समुदाय के सदस्य भी सम्मिलित हैं।"

"याचिका में बहुपत्नी प्रथा की बुराइयों के संदर्भ में तर्क-वितर्क का प्रयत्न नहीं है। इस विषय पर वाद-िववाद भी नहीं है। यह भी हो सकता है कि याचिका संक्षिप्त होने के कारण लोगों में यह गलतफहमी पैदा हो गई।" कि यह बहुपत्नी प्रथा की बुराइयाँ दूर करने की बजाय इस प्रथा को समाप्त कर देने की प्रार्थना है।

वातावरण व परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि सरकार को भी लगने लगा कि लोग इस प्रथा का दिल से विरोध नहीं करें व उसे इस विषय में कोई प्रमाण भी नहीं मिले। हालाँकि सरकार के निर्देशानुसार बंगाल के लेफ्ट. गवर्नर व एच.टी. प्रिंसप की अध्यक्षता में बंगालियों की एक समिति तैयार की गई, ताकि बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध कानून बनाने की संभावना के विषय में पता लगाया जा सके।

7 फरवरी, 1867 को समिति द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। रिपोर्ट में प्रस्तुत किए गए वृत्तांत के प्रमुख अंश निम्नलिखित हैं-

समिति में कहा गया कि बहुपत्नी प्रथा को कुलीन ब्राह्मणों ने जीने का साधन बना लिया है। वृद्धावस्था में भी विवाह होते हैं। कभी-कभी तो पति-पत्नी को परस्पर देखने का भी अवसर नहीं मिलता था। कई वर्षों में एक-दो बार ही भेंट हो पाती है। ऐसा भी हुआ है कि एक व्यक्ति ने दिन में दो-तीन विवाह तक किए हैं।

कुलीन कन्याओं के लिए आसानी से पति न मिल पाने के कारण कितनी कन्याएँ अविवाहित रह जाती हैं।

वर्दवान व हुगली जिलों से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार, ऐसे लोगों के विषय में भी पता चला है, जिन्होंने 8272 व 65 त्रियों से विवाह किए व 30-40 पुत्र-पुत्रियाँ भी उत्पन्न हुए।

समिति ने संक्षिप्त रूप में बहुपत्नी प्रथा की बुराइयों के विषय में कहा कि वैध तरीकों से त्रियों को काम-लालसा पूर्ति से वंचित रखना, केवल पैसे के लोभ में विवाह, पति द्वारा

पत्नी का भरण-पोषण न करना, पैसे के बिना विवाह न करना, व्यभिचार, गर्भपात, वेश्यावृत्ति आदि मुख्य बुराइयाँ थीं।

समिति ने स्पष्टतः कहा कि एक घोषणात्मक अधिनियम पास करके आसानी से कानून बना सकते हैं तथा हिंदू धर्म के प्रामाणिक ग्रंथों से भी इस रिवाज का कोई लेना-देना नहीं है। इसके साथ ही समिति ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह किसी भी तरह की सिफारिश नहीं करती, क्योंकि उसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं।

विद्यासागरजी अब भी अपनी बात पर डटे रहे तथा हस्ताक्षर सहित वक्तव्य दिया कि विवाह-संबंधी स्वतंत्रता में दखल दिए बिना घोषणात्मक अधिनियम पास हो सकता है। यद्यपि बंगाल के लेफ्ट. गवर्नर इस विषय में उनके मत से सहमत थे , किंतु फिर भी भारत सरकार ने घोषणात्मक अधिनियम पारित करने से मना कर दिया।

विद्यासागरजी का विरोध जारी रहा। वे बहुपत्नी प्रथा के कुलीनवाद के विरुद्ध आँकड़े एकत्र करने लगे तथा इस विषय में दो बांग्ला पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित कीं। उन्होंने 1871 में प्रकाशित पुस्तक में जो कहा उसका भावार्थ निम्नलिखित है- “हिंदुओं की प्रचलित बहुपत्नी प्रथा को समाज के विघटन का मूल कारण मान सकते हैं। इस अमानवीय कुप्रथा के कारण जाने कितनी त्रियां प्रतिदिन अकथनीय यातनाओं के दंश सहती हैं। इस प्रथा ने न केवल असंख्य बुराइयों को जन्म दिया है, अपितु समाज का नैतिक आधार भी छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। यहाँ तक कि व्यभिचार, बाल-हत्या व वेश्यावृत्ति भी इसी कुप्रथा की देन हैं। मुझे नहीं लगता कि हम स्वयं इसका अंत कर पाएँगे। हमें कानून द्वारा इस पर पाबंदी लगानी ही होगी। सरकार की मदद लेने के सिवा कोई चारा नहीं दिखता।

“परिवर्तन संसार का नियम है। हम किसी भी रीति-रिवाज़ या परंपरा को हमेशा के लिए अपरिवर्तनीय नहीं मान सकते। विशेषतः तब जब हम अपनी आँखों से इस क्रूर प्रथा से जुड़े दुखद परिणाम देख रहे हैं। यदि यहाँ विदेश अधिकारियों द्वारा हमारी धार्मिक व सामाजिक संस्था में हस्तक्षेप होता भी है तो हमें उसे खुले दिल से स्वीकारना होगा, ताकि इस कुप्रथा का अविलंब अंत हो सके। यही समाज व जाति के हित में होगा। मुझे यह समझ नहीं आता कि सरकार द्वारा कोई कदम उठाने से भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?”

“मुझे इस बात में भी कोई तर्क नहीं दिखता कि जो कार्य हम स्वयं कर सकते हैं, उसे सरकार से क्यों करवाएँ। यदि यह कार्य हम स्वयं ही कर पाते तो भला इतने वर्षों से यह प्रथा ज्यों-की-त्यों क्यों है?” हम कई वर्षों से इस कुप्रथा की बुराइयाँ जानने के बावजूद हाथ पर हाथ धरे बैठे हें। यदि सरकार की सहायता मिल सके तो संभवतः कोई सार्थक परिणाम सामने आए। आनेवाले समय में हम तो यही आशा रख सकते हैं कि केवल आलोचना या निंदा द्वारा दूसरों की अपनी शक्ति नष्ट करनेवालों की संख्या घटेगी तथा समाज-सुधार के कार्य को प्रोत्साहन मिलेगा।

तत्कालीन परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि किसी ने भी उनके इन वचनों पर ध्यान नहीं दिया। सरकार स्वयं कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाह रही थी, जिससे किसी भी प्रकार के जनाक्रोश का सामना करना पड़े। परिणामतः यह आंदोलन अपने अंतिम उद्देश्य तक नहीं पहुँच पाया।

महाप्रयाण के पथ पर

अपने जीवनकाल के अंतिम वर्षों में दयासागर का स्वास्थ्य क्षीण होने लगा। आजीवन शरीर पर जितने कष्ट झेले, अब वृद्धावस्था में वे एक-एक कर अपना प्रभाव दिखाने लगे। उन्होंने युवावस्था में कभी अपने स्वास्थ्य की परवाह नहीं की। दूसरों व केवल दूसरों के लिए जीनेवाले विद्यासागर को जैसे अपने लिए जीना पसंद ही नहीं था। एक-एक कर सामाजिक कुरेतियों पर प्रहार करते-करते व उनका सार्थक समाधान तलाशते-तलाशते जीवन के सातवें दशक में जा पहुँचे।

शारीरिक शक्ति घट गई थी, पर दबंगपन ज्यों-की-त्यों था। पर अभी उनमें किसी भी अनुचित बात या दबाव के आगे झुक जाने की प्रवृत्ति नहीं आ पाई थी। वे बाल-विवाह तथा बहुपत्नी प्रथा को एक सामाजिक कलंक मानते थे और इसके उन्मूलन के लिए जी-जान से जुटे थे, किंतु अपने ही देशवासियों के असहयोगपूर्ण रवैए व अपनी गिरती सेहत के कारण वे इस विषय में पूरा जोर नहीं लगा पा रहे थे। अस्वस्थ शरीर अधिक भाग-दौड़ भी नहीं कर सकता था।

उनकी हालत सँभलने की बजाय दिनोदिन बिगड़ने लगी। अचानक उनके पेट में तेज दर्द उठा। इस दर्द से छुटकारा पाना मुश्किल हो गया। वे अपने पोते के साथ कलकत्ता लौटे कुछ समय तक इलेक्ट्रो होम्योपैथी चिकित्सा कराई, उससे भी कोई लाभ न हुआ।

वे कुछ समय से एलोपैथी दवाएँ भी ले रहे थे। फिर एक मुसलिम हकीम ने अपनी दवाएँ दीं, पर हालत काफी बिगड़ गई। दर्द बढ़ गया, बेहोशी सी छाई रहने लगी। हिचकियाँ बंद होने का नाम ही नहीं लेती थीं। करीब एक महीना इसी अवस्था में बीता।

फिर दो विद्वान् यूरोपीय डॉक्टरों को बुलवाया गया। उन्हें लगा कि पेट में कैंसर हो सकता है। उन्होंने तो मरीज का इलाज करने से ही इनकार कर दिया। फिर जुलाई में सबसे श्रेष्ठ होम्योपैथिक चिकित्सक बुलवाए गए। डॉ. साल्जर का उन दिनों काफी नाम था। कुछ दिन तक उनके इलाज से सुधार दिखाई दिया, उन्हें अल्सर होने का संदेह था। उनका कहना था कि यदि पीलिया के लक्षण न घटे तो रोगी की प्राणरक्षा करना कठिन होगा।

मंद पाचनशक्ति को ध्यान में रखते हुए गधी का दूध पीने की सलाह दी गई, किंतु विद्यासागरजी उसे भी नहीं पचा सके। उनकी जीवनी-शक्ति दिनोदिन मंद पड़ती जा रही थी। अलग-अलग चिकित्सकों व चिकित्सा पद्धतियों ने सभी जोर आजमा लिये, किंतु उनके रोग के लक्षणों में सुधार नहीं आया। हिचकियाँ बढ़ती जा रही थीं। उनसे गाड़ियों का शोर बरदाश्त नहीं होता था। कहते हैं कि आसपास की सड़कों व गलियों पर फूस बिछा दिए

गए, ताकि विद्यासागरजी को कम-से-कम कष्ट हो।

कई चिकित्सक नियमित अंतराल पर आकर जाँच करते रहे, किंतु चिकित्सक अमूल्यचंद्र दिन-रात रोगी की सेवा में बने रहते। वे उन्हें एक पिता की तरह मान देते थे। नारायण चंद्र को भी पिता ने अपने अंतिम दिनों में सेवा का अवसर दे दिया था। इससे पूर्व पिता-पुत्र में काफी समय तक कलह के कारण संबंध-विच्छेद रहा था।

20 जुलाई, 1901 का दिन था। विद्यासागरजी को तेज बुखार था। वे बिस्तर से उठ भी नहीं पा रहे थे। उन्हें लगा कि कुछ मामलों में नए सिरे से फैसले लेने होंगे। वे चाहते थे कि अपनी शैक्षिक संस्थाओं को कमेटियों के सुपुर्द कर दें, किंतु कोई भी ठोस निर्णय लेने से पहले स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया।

कलकत्ता के जाने-माने कविराज ने जाँच के बाद तसल्ली दी कि ऊपर से चाहे रोग अधिक लग रहा हो, किंतु शरीर के भीतर इतना नुकसान नहीं हुआ है। सबने सुनकर चैन की साँस ली। एक उम्मीद की किरण दिखी, लेकिन रोग और भी बढ़ गया।

विद्यासागरजी शांत व सहज भाव से रोग की पीड़ा झेल रहे थे। स्वयं दूसरों के दुख हरनेवाले विद्यासागरजी को यह बिलकुल पसंद नहीं था कि कोई उनकी सेवा करे।

29 जुलाई, 1901 को सारी उम्मीदें समाप्त हो चुकी थीं। रोगी मृत्युशैया पर था। कहते हैं कि वे अपने अंतिम क्षणों तक दीवार पर टँगी माँ की तसवीर को देखते रहे और उनकी आँखों में आँसू उमड़ते रहे।

किसी आत्मीय जन को अपनी आँखों के सामने इस दुनिया से विदा लेते देखना कितना दुखदाई होता है। पल-प्रतिपल मृत्यु की गोद में जाते व्यक्ति और आसपास हाथ बाँधे खड़े असहाय परिजन। यहीं आकर मनुष्य को अपनी निरीहता का सबसे अधिक बोध होता है। रात को करीब दो बजे, कमरे के बाहर प्रतीक्षारत रिश्तेदार, ट्रस्ट के मित्रों व परिचितों ने सुना कि विद्यासागर इस संसार में नहीं रहे। ज्ञान, विद्या, प्रेम, स्नेह, दया, बुद्धिमत्ता व अटल साहस का प्रखर आलोक अब विलीन हो गया था।

सुबह चार बजे भागीरथी नदी के किनारे अंतिम संस्कार की तैयारियाँ की गइऔ। मार्ग में उनके शव को मेट्रोपॉलिटन संस्था के बाहर रोका गया। उनके पुत्र नारायण चंद्र ने व्यथित स्वर में कहा, “बाबा, यह रही आपकी प्राणप्रिय संस्था। ” मुझे आशीर्वाद दें कि मैं आपके इस भले काज को आगे ले जा सवूँ।

अंतिम यात्रा में उपस्थित जन फूट-फूटकर रो रहे थे। सड़क के दोनों ओर खड़े लोग अपने प्रिय विद्यासागरजी के अंतिम दर्शन करना चाह रहे थे। उस दिन कलकत्ता में सूर्योदय हुआ, किंतु उसके साथ ही एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी, करुणा व दया के सागर, स्नेह व संबल की प्रतिमूर्ति का सूर्यास्त हो गया।

दिन निकलते ही पूरे कलकत्ता में यह समाचार दावानल की तरह फैल गया। प्रमुख समाचार-पत्रों ने दिवंगत की याद में शोक-संदेश प्रकाशित किए। नगर के सभी निजी स्कूल व कॉलेज उस महान् शिक्षाविद् के सम्मान में बंद रहे। मेट्रोपॉलिटन संस्था के छात्रों ने उस दिन जूते नहीं पहने। मेट्रोपॉलिटन संस्था, संस्कृत कॉलेज व प्रेसीडेंसी कॉलेज के प्रंगण में शोकसभाएँ आयोजित की गइऔ।

27 अगस्त, 1891 को कलकत्ता के टाऊन हॉल में सर चार्ल्स इलियट की अध्यक्षता में विद्यासागरजी व डॉ. राजेंद्र लाल मित्र की स्मृति में एक विशाल सभा का आयोजन हुआ। इसके बाद भी दैनिक, साप्ताहिक, मासिक व वार्षिक पत्रों व पत्रिकाओं में उनके नाम पर सैकड़ों कविताएँ, पद्य व गद्य रचे गए। ऐसा लगता था मानो विद्यासागर लोगों के दिलों में बस गए थे।

इस संसार से जानेवाला व्यक्ति अपने साथ कुछ नहीं ले जाता। उसके जाने के बाद संसार में भी केवल कीर्ति ही शेष रहती है। ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी की सुकुर्ति चारों ओर देदीप्यमान थी।

आजीवन त्री-शिक्षा के लिए प्रयत्नशील रहनेवाले विद्यासागरजी को वे त्रियाँ भला कैसे भुला देतीं, जिनके लिए उन्होंने ज्ञान के द्वार खोले थे। जिन्हें घर की चारदीवारियों से निकालकर शिक्षा पाने का अवसर दिया था। जिन्हें इस समाज में पुरुषों के समान शिक्षा का अधिकार दिलवाया था, ताकि वे भी अपनी प्रतिभा व बुद्धिमत्ता का लोहा मनवा सकें।

विद्यासागरजी की स्मृति में उन महिलाओं ने मिलकर कुछ हजार रुपए एकत्र किए और एक 'मेमोरियल कमेटी' बनाई। वह धनराशि वेथ्यून स्कूल के अधिकारियों को सौंप दी गई, ताकि विद्यासागरजी के नाम पर छात्रवृत्ति दी जा सके, पंडितजी की स्मृति को चिर-जीवंत बनाए रखने के लिए इससे बेहतर उपाय हो भी क्या सकता था।

यद्यपि वे भौतिक रूप से इस संसार में नहीं रहे, किंतु क्या आज भी उनके कल्याणकारी कार्य़ों की नींव पर खड़े भवन दिखाई नहीं देते।

दया के सागर

ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी को यह उपाधि यूँ ही नहीं मिल गई थी। इसके पीछे एक ऐसा भला व निस्स्वार्थ व्यक्तित्व था, जो वर्षों से विभिन्न रूपों में समाज को अपनी सेवाएँ देता जा रहा था। चाहे किसी रोगी की सेवा-टहल हो या किसी को कठिन घड़ियों में दी गई वित्तीय सहायता, पारिवारिक कलह में परामर्शदाता की भूमिका हो या मधुसूदन दत्तजी को विदेश में सहायता पहुँचाने की पहल, ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी कहीं नहीं चूके।

बंगाल में उन्हें स्नेह से 'दयार सागर' कहा जाता था। जिन दिनों वे जगदुर्लभ सिंहजी के यहाँ रह रहे थे, उन्हें दिनों आसपास के इलाके में हैजे का भीषण प्रकोप फैला। जगदुर्लभ सिंहजी के पास एक व्यक्ति आया, सूचना दी कि उनके एक परिचित का पूरा परिवार महामारी से ग्रस्त होकर अंतिम साँसें ले रहा है। यदि उन्होंने सहायता न की तो पूरा परिवार समाप्त हो जाएगा। किसी भी विपदा की घड़ी में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुरक्षा का प्रंध पहले कर लेना चाहता है। हम इसे अनुचित भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह मानवीय प्रकृति है। जगदुर्लभ सिंहजी ने इस विषय में इस तरह जताया, मानो वे कुछ जानते ही न हों; किंतु संयोगवश विद्यासागर भी वहीं उपस्थिति थे। उन्होंने झट से अपने परिवार के भोजन का प्रंध किया। भाइयों को भोजन करवाया और उस रोगी परिवार के घर जा पहुँचे।

वहाँ तो जैसे चारों ओर नर्क का साम्राज्य था। परिवार के पाँचों प्राणी कै और दस्त से बेहाल थे। चारों ओर गंदगी व बदबू फैली थी। पहले तो उन्होंने सारी साफ-सफाई की, फिर साफ पानी भर लाए। उन्होंने सुन रखा था कि हैजे के रोगी को बार-बार पानी दिया जाए तो उसकी प्राणरक्षा होने की संभावना बढ़ जाती है। उन्होंने सभी रोगियों को पानी पिलाया व डॉक्टर को बुलाने चल दिए।

उस समय डॉ. रूपचंद्रजी ने विद्यासागर को भरपूर सहयोग दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी व नवाबों की ओर से रोगियों को मिलनेवाली सहायता भी दिलवाई तथा पुलिस थाने से निःशुल्क औषधि की व्यवस्था भी हो गई। डॉक्टर साहब घर पहुँचे तो रोगियों की गिरती दशा देखकर बोले, "थाने से मिली दवा के साथ पानी न देने की हिदायत दी गई है, जबकि मेरे हिसाब से इस दशा में रोगियों को बार-बार पानी पिलाना ठीक रहेगा।" डॉक्टर साहब ने वापिस पहुँचकर आवश्यक सामान के साथ साफ-सफाई करनेवाली मेहतरानी भी भेज दी। विद्यासागर किसी भी कीमत पर रोगियों की प्राणरक्षा करना चाहते थे। वे सारी रात जगकर उन्हें थोड़ी-थोड़ी देर बाद पानी पिलाते रहे। सुबह दो रोगियों के मुहँ से शब्द फूटे तो उन्होंने चैन की साँस ली। उनकी तपस्या सफल हो गई थी। उस परिवार की सार-सँभाल के बाद वे नहाकर अपने घर जा पहुँचे तथा भोजन बनाने लगे। पिता उन्हें खोजने

निकले थे।

लौटने पर पिता ने पूछताछ की तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मैं दो-तीन दिन तक कॉलेज जाने की बजाय महामारी से ग्रस्त रोगियों की सेवा करना चाहता हूँ। पिता भी जानते थे कि निर्धन व असहाय जन की करुण पुकार सुन कर दयासागर चुप नहीं रह सकता। उन्होंने पुत्र को सहर्ष अनुमति दे दी।

इसी संदर्भ में अंग्रेजी तथा बांग्ला के कवि माइकेल मधुसूदन दत्त का स्मरण हो आया। उन्होंने बांग्ला में 'मेघनाथ वध' नामक महाकाव्य लिखकर ख्याति पाई। बंगाली समाज ने उनकी रचनाओं को तो अपनाया, किंतु उन्हें यथोचित मान नहीं दिया; क्योंकि उन्होंने एक अंग्रेज महिला से विवाह किया था तथा ईसाई धर्म भी अपना लिया था।

विदेश में उन्होंने पर्याप्त धनार्जन किया, किंतु दानी व परोपकारी स्वभाव के कारण कुछ भी जमा करके नहीं रखा। समाज से मिली उपेक्षा ने उन्हें तोड़ दिया और वे बीमार रहने लगे। उनके पास न तो दवा के लिए पैसे थे और न ही सेवा करने के लिए कोई व्यक्ति।

सुदूर विदेश में बैठे माइकेल बैरिस्टर बनने के उद्देश्य से बाहर गए थे। वहाँ वे आर्थिक संकट में घिर गए। स्थानीय अधिकारियों ने धमकी दी कि यदि वे दिवालिया घोषित हुए तो उन्हें सिविल जेल में डाल दिया जाएगा। ऐसे हालात में उन्होंने विद्यासागरजी को पत्र के माध्यम से विनती की कि वे उनकी सहायता करें। निस्देंह उनका चुनाव गलत नहीं था। विद्यासागरजी के पास भी धन नहीं था, किंतु उन्होंने मित्रों से रुपया उधार लेकर विदेश स्थित कवि को भेजे। यदि उस दिन समय पर सहायता न मिलती तो कवि को जेल की हवा खानी पड़ती। कवि ने कितने मार्मिक शब्दों में दया के सागर को धन्यवाद दिया। यह उनके पत्रों के अंशों से ही स्पष्ट हो जाता है-

"...डाक आज आएगी और यह भी निश्चित है कि कोई खबर मिलेगी, क्योंकि मैंने जिस व्यक्ति को पत्र लिखा है, वह पुरातन संतों की बुद्धि का स्वामी है, उसके पास अंग्रेज की सी शक्ति व स्फूर्ति तथा बंगाली माँ का सा हृदय है...।" मैं गलत नहीं था। ठीक एक घंटे बाद मैंने तुम्हारा पत्र व रुपए पाए। मेरे प्रिय मित्र! बहुत-बहुत धन्यवाद! तुमने मुझे बचा लिया।

"मैं अपने देश वापिस लौटने तक जीवित रहूँगा। और अपने देशवासियों को बताऊँगा कि आप न केवल विद्यासागर, बल्कि करुणा के सागर हैं। यद्यपि आप बंगाली हैं, फिर भी आप प्रकृति की रचना में एक लेकोत्तर महामानव हैं।" आप जैसा महान् बंगाली कभी पैदा नहीं हुआ। लोग सजल नेत्रों व गद्गद हृदय से आपकी चर्चा करते हैं।

मधुसूदन दत्तजी ने सही कहा था कि वे सबके बीच सर्वेत्तम पुरुष थे। जो व्यक्ति अपने पास धन न होने पर भी उधार लेकर मित्र की सहायता करे, उसे सर्वोत्तम न कहें तो क्या कहें। विद्यासागरजी ने धन देते समय न तो उसे वापिस पाने की अपेक्षा रखी थी और न ही वह धन उन्हें वापिस मिला, क्योंकि देश लौटने पर तो कवि की स्थिति और भी शोचनीय हो

गई थी। एक जीवनीकार के अनुसार, जब कवि यक्ष्माग्रस्त होकर मृत्युशैया पर थे, तो उनकी सहायता व सेवा करनेवाला कोई नहीं था। विद्यासागरजी ने उन्हें अस्पताल में भरती करवाया। अपनी ओर से उनकी सेवा में कोई कसर नहीं छोड़ी, किंतु वे माइकेल मधुसूदन दत्त को बचा नहीं पाए।

विद्यासागरजी के जीवन से जुड़े अनेक रोचक प्रंग हैं, जो उनके उदात्त व्यक्तित्व की उदारता, दयालुता, करुणा व स्वाभिमान का परिचय देते हैं। जब वे पहली बार वर्दवान के महाराज से मिलने गए तो महाराज का अतिथि बनने की बजाय अपने मित्र के यहाँ ठहरे। दरबार में उनका यथायोग्य स्वागत हुआ। महाराज ने उन्हें कीमती शॉल व पाँच सौ रुपए देने चाहे तो विद्यासागरजी ने सविनय इनकार करते हुए बोले, “मैं इस समय एक सरकारी कॉलेज में कार्यरत हूँ। वहाँ से मिलनेवाला वेतन मेरे भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। मुझे व्यक्तिगत रूप से उपहार लेना पसंद नहीं।”

महाराज विद्यासागरजी के स्वभाव से परिचित थे। अतः उन्हें न तो कोई आश्चर्य हुआ और न ही रुष्ट हुए। आनेवाले समय में वे विद्यासागरजी के समर्थकों में से एक बने तथा समाज सुधार आंदोलनों में यथेष्ट सहयोग देते रहे।

एक बार उन्होंने विद्यासागरजी से कहा, “पंडितजी! मैं चाहता हूँ कि आपको आपकी जन्मभूमि वीरसिंह गाँव ताल्लुके के रूप में दूँ।”

यहाँ पंडितजी ने जो उत्तर दिया, वह वास्तव में उनके करुणा सागर होने की ही पुष्टि करता है। उन्होंने कहा, “मैं ताल्लुकेदार नहीं बनना चाहता। मैं एक ताल्लुकेदार होने के विषय में तभी सोच सकता हूँ जब ताल्लुके की सभी रैयतों का लगान जमींदार को अदा करा सकूँ।”

यह सुनकर वर्दवान के महाराज हतप्रभ रह गए। हमेशा दूसरों के दुख से दुखी होनेवाले विद्यासागरजी परावलंबी मनुष्य को देखकर भी पीड़ित होते थे। एक बार उन्होंने एक भिखारी युवक को भिक्षा माँगते देखा तो बोले, “भाई! आज मुझसे एक पैसे की भीख ले लोगे। आज की भीख से आज का पेट तो भर लोगे, लेकिन कल फिर किसी दूसरे के आगे हाथ पसारोगे। यह सिलसिला तो यूँ ही चलता रहेगा। तुम्हें समाज व परिवार से न तो स्नेह मिलेगा और न ही सम्मान।” आज मैं तुम्हें एक रुपया देता हूँ, इसे खर्च करने की बजाय फल खरीदकर बेचो। जो मुनाफा हो, उससे पेट भरना। परिश्रम का फल कभी व्यर्थ नहीं जाता।

उस युवक ने शायद जीवन में पहली बार किसी को ऐसा स्नेह पाया था। उसने पंडितजी के परामर्श को अपनाया व फल बेचे। अगले ही दिन वह पुनः उनके पास जा पहुँचा और बोला, “पंडितजी! आपका परामर्श तो पारस पत्थर निकला। अब मुझे भी जीने का सही तरीका आ गया। मैं आज के बाद भिक्षा के लिए हाथ नहीं पसारूँगा व समाज में नाम कमाऊँगा।”

इस तरह पंडितजी के सहयोग से एक भिखारी प्रतिष्ठित फलवाला बना। उसने स्वावलंबन का पाठ पढ़ लिया था।

इसी प्रंग में एक और घटना कही जाती है। कहते हैं कि पंडितजी किसी कार्यवश स्टेशन गए। वहाँ अंग्रेजी सूट-बूट में सजा युवक कुली-कुली चिल्ला रहा था। उसने पंडितजे को हिंदुस्तानी पोशाक में देखा तो कुली ही समझ लिया और बोला, “चलो-चलो! मेरा मुँह मत ताको। सामान उठा लो।”

पंडितजी भी कम कौतूहलप्रिय नहीं थे। वे सिर पर सामान लादकर साथ हो लिये। कुछ दूर पैदल चलने के बाद ही युवक का गंतव्य स्थान आ गया। उसने मजदूरी देते हुए कहा, “यह लो, खुले पैसे भी तुम्हीं रख लो।”

विद्यासागरजी बोले, “बाबूजी, मजदूरी कैसी, आपको सहायता की आवश्यकता थी। मैंने सहायता करके अपना कर्तव्य निभाया।”

“तो क्या तुम कुली नहीं हो?”

जब युवक को असलियत पता चली तो वह सकते में आ गया। पंडितजी का परिचय पा लेने के बाद तो वह लज्जा से जमीन में ही गड़ गया।

पंडितजी बोले, “मित्र ! लज्जित न हो। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि जो कार्य वह स्वयं कर सकता है, उसके लिए दूसरों का मुँह न ताके।”

क्या स्वावलंबन का यह सबक उस युवक तक नहीं पहुँचा होगा?

निस्देंह विद्यासागरजी शिक्षा, समाज-सुधार व साहित्य आदि अनेक गतिविधियों में व्यस्त रहते, किंतु इससे उनके मानवतावादी कार्य़ों में कभी कोई बाधा न आती । वे दुखी जन उन्हें खोज ही निकालते। प्रौढ़ावस्था में उनके पास आय के पर्याप्त साधन थे। पुस्तकों से काफी मात्रा में रॉयल्टी भी मिलती थी, किंतु उनकी आय का अधिकतर हिस्सा दानखाते में ही जाता था।

एक बार वे बीमार पड़े तो चिकित्सक ने स्वास्थ्य लाभ के लिए जलवायु-परिवर्तन का परामर्श दिया। तब वे बोले, “नहीं भाई! यदि मैं यहाँ से गया तो जरूरतमंद लोगों तक सहायता राशि नहीं पहुँच पाएगी। मेरे नित-िनयम में बाधा आ जाएगी।”

चिकित्सक ने कहा, “पंडितजी, इसमें इतना सोचने-िवचारने की क्या आवश्यकता है। आप अपने किसी इष्ट-मित्र को यह कार्य सौंप दें। वह आपकी अनुपस्थिति में खाता चालू रखेगा।”

पंडितजी ने उत्तर दिया- “नहीं डॉक्टर साहब! मैं ऐसा पहले एक बार कर चुका हूँ। मुझे बाद में पता चला कि जिस व्यक्ति को यह उत्तरदायित्व सौंपकर गया था,” उसने जरूरतमंदों की सहायता करने की बजाय उस धनराशि का स्वयं प्रयोग किया और मेरा प्रयोजन अधूरा ही रह गया। अब मैं यह खतरा मोल नहीं लेना चाहता।

मानवजाति के प्रति असीम स्नेह व दया रखनेवाले विद्यासागरजी मनुष्य मात्र की सेवा का कोई अवसर नहीं छोड़ते थे। जब उड़ीसा व पश्चिम बंगाल के एक हिस्से में अकाल पड़ा तो उन्होंने अपनी व्यक्तिगत आय से सहायता राशि की व्यवस्था की। चार माह तक भूखे व्यक्तियें के लिए दिन-रात लंगर चलाया। क्या यह कोई साधारण कार्य था?

वास्तव में ऐसे मानवतावादी के सभी कार्यों व प्रयासों का विवरण भी पूर्ण रूप में नहीं मिल पाता, क्योंकि वे प्रायः इस तरह सेवा करते हैं कि किसी को कानोकान खबर तक नहीं होती। वे किसी भी तरह के आडंबर से कोसों दूर होते हैं, क्योंकि वे किसी यश-सम्मान की चाह में, अपितु मानवता के प्रति अपना कर्तव्य निभाने की दृष्टि से यह सब किया करते हैं।

बंगाल के विख्यात हरप्रसाद शात्रीजी की रचनाओं से विद्यासागरजी के एक और रूप का परिचय मिलता है। बात उन दिनों की है, जब पंडितजी कलकत्ता से दूर संथालों की बस्ती के पास बँगला बनवा रहे थे। वे प्रायः शहर के कोलाहल से दूर, उस रमणीय स्थान पर रहने चले जाते। शीघ हे आसपास का संथाल समाज भी उनसे परिचित हो गया और वे अपनी छोटी-बड़ी समस्याओ के समाधान के लिए उनके पास आने लगे।

हरप्रसाद शात्रीजी को एक बार पंडितजी का अतिथि बनने का सौभाग्य मिला। हरप्रसादजी वहाँ पहुँचे तो कमरे में चारों ओर लगाई गई अलमारियाँ देखकर चौंक गए। उन्हें यह विचित्र तो लगा, किंतु वे कुछ नहीं बोले।

दिन के समय घर के बाहर संथालों का झुंड इकट्ठा होने लगा। शात्रीजी कुछ समझ नहीं पा रहे थे। तभी पता चला कि वे संथाल पंडितजी को अपना अन्न व मक्का आदि बेचने आए थे। पंडितजी ने मुँह माँगे दामों पर मक्का खरीदकर उन्हें विदा दी। सारा अन्न अलमारियों में रखवा दिया गया।

शात्रीजी संकोचवश कुछ नहीं पूछ पाए। उन्हें समझ नहें आ रहा था कि पंडितजी इतने अन्न का क्या करेंगे। तो क्या उन्हेंने अन्न खरीदने-बेचने का धंधा चालू कर दिया था। अतिथि से पूछताछ करना भी अशिष्टता कहलाता। अतः उन्होंने चुपचाप सबकुछ देखने का निर्णय लिया। उसी दोपहर लौटने की बात तय थी, किंतु वे कौतूहलवश वहीं ठहर गए।

यह क्या, दोपहर बाद संथालों का एक और दल आ धमका, किंतु वे लोग कुछ बेचने नहीं आए थे। उनकी दीन-हीन दशा देखकर लगता था कि उनके पास खाने को भी कुछ नहीं था। उन्हें देखते ही पंडितजी ने सारा मक्का व अन्न बाहर मँगवा लिया। देखते-ही-देखते सबकुछ संथालों में बँट गया। यह था पंडितजी का व्यापार। क्या पंडितजी ने इस धंधे में कोई रुपया कमाया? नहीं! इस धंधे से मिलनेवाली दुआएँ लाभ व धन के मुकाबले कहीं कीमती थीं।

विद्यासागरजी व्यक्तिगत रूप से किसी का भी एहसान लेना पसंद नहीं करते थे। एक बार वे अंग्रेज कलाकार हाडसन से मिले, जो कि पाहकपाड़ा राजपरिवार के सदस्यें के तैलचित्र बनाने आया था। विद्यासागरजी के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा सम्मोहन था कि वह उनका चित्र बनाने का हठ करने लगा। पंडितजी ने अनुमति भी दे दी। एक चित्र भी बन गया, किंतु

समस्या तो तब आई जब पंडितजी उसे पारिश्रमिक देना चाहते थे और वह कोई भी धनराशि लेने को तैयार न था। उसका कहना था कि उसने स्नेहवश वह चित्र बनाया है। पंडितजी यहाँ तो चुप ही रहे, किंतु कलाकार को किसी-न-किसी रूप में पारिश्रमिक अवश्य देना चाहते थे।

उन्होंने कहा, “अच्छा! मेरे माता-पिता का चित्र बनाओ, तब आपको पारिश्रमिक भी लेना होगा।”

कलाकार ने उनके माता-पिता का चित्र बनाया और उन्होंने दुगना पारिश्रमिक देकर चैन की साँस ली।

विद्यासागरजी ने होम्योपैथी का प्रशिक्षण भी लिया, उन्हें लगा कि वह वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति उन निर्धनों के लिए श्रेयष्कर है, जो महँगी दवाओं व चिकित्सा का खर्च नहीं उठा पाते।

उन्होंने कुशल राजेंद्रनाथ दत्त के संरक्षण में होम्योपैथी का प्रशिक्षण लिया। फिर तो निर्धन संथालों से लेकर उनके परिवार के सदस्य तक उनके रोगियों की सूची में आ गए।

कई परिचितों ने अपने लेखन में इस सहृदय होम्योपैथिक चिकित्सक का वर्णन किया है। हरप्रसाद शात्रीजी लिखते हैं कि उन्हें एक बार कर्मतार में विद्यासागरजी के बँगले में ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ। प्रायः शहर की व्यस्ततापूर्ण जिंदगी के बीच इस व्यक्ति के वास्तविक रूप का दर्शन नहीं कर पाते। औपचारिकताओं के परदे में जाने कितना कुछ छिपा ही रह जाता है, किंतु उस सुनसान स्थान पर बसे बँगले में भला क्या छिप सकता था।

शात्रीजी शाम को कमरे से निकले तो अपने मेजबान को गायब पाया। पूछताछ करने पर भी कुछ पता नहीं चला। तभी उन्होंने देखा कि कीचड़ से लथपथ पैरों के साथ, पंडितजी खेत की मेंड़ पर चले आ रहे थे। उन्होंने शात्रीजी को देखते ही बिना बताए जाने के लिए क्षमा माँगी और बोले, “माफ कीजिए! मुझे अचानक जाना पड़ा। आपको बताकर भी नहीं जा सका।”

शात्रीजी ने पूछा, “क्या कोई जरूरी काम आन पड़ा था?”

“जी! एक संथाली युवक की नाक से खून बहना बंद नहीं हो रहा था। उसकी माँ मुझे बुलाने आई तो मैं खुद को रोक नहीं पाया।”

पंडितजी होम्योपैथिक दवाओं का डिब्बा लिये भीतर जाने लगे तो शात्रीजी ने पूछा, “क्या पास में ही गए थे?”

“हाँ, यही डेढ़ मील के करीब रास्ता रहा होगा।”

शात्रीजी उस अठावन वर्षीय महामानव के इस रूप को देख वहीं खड़े रह गए।

दयालुता उनके चरित्र का सुस्पष्ट गुण था। इतना सुस्पष्ट कि वे 'दयार सागर' कहलाने लगे थे। क्या त्रियों के अधिकारों के लिए लड़नेवाले रूप से उनके हृदय की दयालुता का ही परिचय नहीं मिलता।

रवींद्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि पंडितजी के चरित्र में मनुष्यत्व का गुण भी विद्यमान था। उनके हृदय में केवल निर्धन, असहाय या किसी जाति विशेष के लिए दया के भाव नहीं थे वरन् उन्होंने जाति-पाँति, धर्म व समाज आदि के बंधनों से ऊपर उठकर मानवजाति की सेवा की। यहाँ इस संदर्भ में गुरुदेव द्वारा उनके लिए कहे गए शब्दों को देना प्रासंगिक होगा।

"यदि मैं विद्यासागर के चरित्र के उस विशेष महत्त्वपूर्ण गुण का वर्णन नहीं करता तो संभवतः कर्तव्यपालन से चूक जाऊँगा। इसी गुण ने उनके अर्थपूर्ण जीवन की धारा के दिशा-िनर्देशन में सहायता की।" यह उन्हें संकीर्ण हिंदू धर्म व संप्रदायवाद से परे हटाकर स्वतंत्र व मुक्त बंधनमुक्त मानववाद की ओर ले जाता था। इसमें दयालुता के अश्रु भी पड़े थे, वह गँवार पद्धतियों व बंगाली जीवन-शैली की सीमाओ को तोड़ने के साथ-साथ, केवल अपनी ही शक्ति के आधार पर कड़े विरोध को भी मूल्य में बदल देता था।

मातृदेवो भव

ईश्वरचंद विद्यासागरजी का मातृस्नेह वास्तव में दुर्लभ है। वे अपनी माँ की भक्ति करते थे। माँ भगवती उनके जीवन का आदर्श थीं। माँ ने ही तो नन्हे ईश्वर को कलकत्ता भेजकर अपनी ममता का गला घोंटा था। यदि वे ईश्वर को कलकत्ता जाने की अनुमति न देतीं तो क्या वे संस्कृत के प्रकांड पंडित बन पाते। वे अपनी माँ के प्रत्येक आदेश का अक्षरशः पालन करते। इसी संदर्भ में एक घटना यहाँ प्रासंगिक होगी।

बात उन दिनों की है, जब वे फोर्ट विलियम कॉलेज में कार्यरत थे। गाँव से समाचार आया कि उनके तीसरे भाई शंभुंद्र का विवाह तय हो गया है। माँ का विशेष आग्रह था कि ईश्वर घर पहुँचे। ईश्वर ने तत्काल मि. मार्शल को अपनी अरजी भेजी, किंतु उन्होंने इसे नामंजूर कर दिया।

ईश्वर मन-ही-मन माँ की दशा देखकर व्याकुल हो गए। वे समझ सकते थे कि उनके न जाने से माँ के दिल पर क्या बीतेगी। उन्हें पुत्र से न मिल पाने का कितना दुख होगा। घर पहुँचे तो बाकी लोग गाँव जाने के लिए तैयार थे। जब सभी चले गए तो सूने घर में ईश्वर को माँ की और भी याद सताने लगी। वे उस रात क्षण भर के लिए भी सो नहीं पाए।

सुबह उन्होंने तय किया कि वे पुनः अरजी देंगे। यदि इस बार भी मि. मार्शल न माने तो वह अपना त्याग-पत्र दे देंगे। चाहे जो भी हो, घर तो वे जाकर ही रहेंगे। उन्होंने मि. मार्शल के सामने फिर से अरजी दी व कहा, “सर! मेरी अरजी मंजूर कर दीजिए।” यदि नहीं कर सकते तो कृपया मेरा इस्तीफा मंजूर कीजिए। मैं इस नौकरी के कारण अपनी माँ को दुखी होते नहीं देख सकता।

मि. मार्शल ईश्वर की मातृभक्ति देख दंग रह गए । उन्होंने सहर्ष अरजी मंजूर कर दी। ईश्वर अपने सहायक सहित दोपहर को गाँव के लिए रवाना हो गए।

जुलाई माह में बंगाल की बरसातें; चारों ओर कीचड़, आकाश में घुमड़ते बादल, तेज हवा के साथ वर्षा के झोंके। घर से बाहर पैदल जाने का यह सही समय नहीं था, किंतु ईश्वर ने कब किसकी मानी थी। वे तेजी से चलते रहे तथा अपने सहायक के साथ देर रात कृष्ण रामपुर पहुँचे। गहरे अँधेरे में हाथ को हाथ नहीं सूझता था। अपने सहायक की प्रार्थना पर उन्हें वह रात एक धर्मशाला में बितानी पड़ी। अभी कम-से-कम 26 मील की पैदल यात्रा शेष थी।

अगले दिन सुबह जल्दी उठकर यात्रा पर निकल पड़े। थोड़ी दूर जाने पर देखा कि श्रीराम

तो थकान और भूख से बेहाल था। सहायक का गाँव वहाँ से अधिक दूर नहीं था। उन्होंने सबसे पहले उसे पास के होटल से भोजन करवाया और कुछ पैसे देकर बोले, "तुम यहाँ से अपने घर चले जाना।"

बस उसे विदा देकर वह उपने गंतव्य की ओर बढ़ चले। कुछ रास्ता तय करने के बाद दामोदर नदी आई। नदी उफान पर थी। बड़े वेग से अपने किनारों को तोड़-फोड़कर बहती जा रही थी। नदी की तेज लहरों का स्वर कानों में गूँज रहा था। घाट पर न तो कोई नौका थी और न ही कोई नाविक दिख रहा था।

अब उनके आगे समस्या आई। माँ से मिलने के लिए नदी पार करनी थी और नदी पार करने का कोई साधन नहीं था। उन्होंने प्रभु का नाम लिया व नदी में छलाँग लगा दी। हो सकता है कि पाठकों को यह प्रंग अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़े, किंतु वास्तव में ऐसे मातृभक्त हृदय भी होते हैं।

माँ के आशीर्वाद व प्रभु की कृपा से वे उस पार सुरक्षित पहुँच गए। आगे चलकर एक और बरसाती नदी आई। एक लंबी नदी तैरकर पार करने की थकान, ऊपर से खाली पेट। ईश्वर की हिम्मत जवाब दे रही थी; पर उन्होंने हार मानना कहाँ सीखा था। जाने किस दिव्य प्रेरणा से वे पुनः नदी में कूद पड़े और दुगुने मनोबल से तैरने लगे।

ये सब बाधाएँ पार कर गीले वत्रों में कँपकँपाते ईश्वर जब गाँव पहुँचे तो तकरीबन आधी रात हो गई थी। बारात तो दूसरे गाँव के लिए निकल चुकी थी। विद्यासागरजी को गाँव में कोई न दिखा। माँ भी नहीं दिखाई दीं तो उन्होंने पुकारा, "माँ! तुमी कोथाम?"

माँ दरवाजा बंद किए अपने पुत्र के न आने के शोक में आँसू बहा रही थी। पुत्र का स्वर सुन उसने लपककर किवाड़ खोला और उसे अपनी बाँहों में भर लिया।

पाठक स्वयं ही उस स्वर्गीय दृश्य की कल्पना कर सकते हैं। इतनी लंबी पैदल यात्रा व कष्टों को झेलकर पुत्र का माँ तक पहुँचना व माँ के संतप्त हृदय को सांत्वना देना। जब मन का भावावेग शांत हुआ तो ईश्वर ने गीले वत्र बदले व माँ ने उन्हें गरम-गरम खाना परोसा। उस दिन वे दोनों सुबह से ही भूखे थे।

विद्यासागरजी का माँ के प्रति अगाध स्नेह था। शहरी वातावरण में नाना कार्यकलापों व गतिविधियों में व्यस्त रहने के बावजूद वे माँ की सुधि लेना नहीं भूलते थे। माँ ने अपने वैवाहिक जीवन के प्रारंभिक वर्षों में जितने भी आर्थिक कष्ट सहे। विद्वान् पुत्र ने अपने सामर्थ्य से उन सबको दूर कर दिया। अब वे एक प्रख्यात विद्वान् व संपन्न युवक की माँ थीं।

माँ की मृत्यु विद्यासागरजी के लिए किसी गहरे सदमे से कम नहीं थी। अगस्त 1870 में वे तीर्थयात्रा के लिए गइऔ। उन दिनों उनके पति बनारस में थे। वे गाँव में ही रहती थीं, ताकि पुत्र ईश्वर द्वारा चलाए जा रहे स्कूलों को देख सकें। उनके घर से प्रतिदिन कितने ही अनाथ छात्रों को भोजन मिलता था। वह व्यवस्था उन्होंने अपने सिर ले रखी थीं, किंतु

मृत्यु का समय आया तो वह पतिव्रता स्वयं ही पति के पास जा पहुँची। उन्हीं दिनों ईश्वर के पिता ठाकुरदासजी बीमार पड़े। ईश्वर उनकी सेवा के लिए बनारस पहुँचे तो माँ भी वहीं थीं। वहाँ उन्हेंने माँ-बाबा के साथ कुछ अच्छा समय बिताया। ठाकुरदासजी कुछ ही दिन में स्वस्थ हो गए। विद्यासागरजी कर्मक्षेत्र में लौट आए।

इस घटना के करीब दो माह बाद अचानक उन्हें सूचना मिली कि माँ नहीं रहीं। पाठक स्वयं अनुमान लगाएँ कि मातृवत्सल ईश्वर पर यह सुनकर क्या बीती होगी।

हम अपने शब्दों में उनके मन की व्यथा प्रकट नहीं कर सकते। माँ से वियोग की कल्पना तक न कर पानेवाले ईश्वर को अब उनसे चिर वियोग सहन करना था। इस संसार में सभी बच्चों की माएँ होती हैं। जो जन्म लेता है, उसे इस संसार से जाना भी पड़ता है। यह इस संसार की एक कटु वास्तविकता है। ज्ञानीजन इसे स्वीकारते भी हैं, किंतु इस बोध के बावजूद माँ व संतान का नाता ऐसा होता है कि इसके टूटने की पीड़ा असहनीय हो जाती है। माँ की मृत्यु के बाद संतान को ऐसा लगता है मानो उसके हृदय में कोई कोना खाली हो गया हो या छाती पर किसी ने भारी सिल धर दिया हो। उसकी आखिरी साँस तक माँ से वियोग की पीड़ा नहीं जाती।

ईश्वरचंद्रजी ने भागीरथी के किनारे माँ का श्राद्ध किया। उन्होंने पूरे एक वर्ष तक शात्रों के अनुसार सभी कार्य किए। मांस-मछली खाना छोड़ दिया, पूरे एक वर्ष तक वे स्वयं पाकी होकर दिन में एक ही बार आहार लेते। उन्होंने जूते पहनना छोड़ दिया। भूमि पर शयन करते। कुल मिलाकर, पूरे एक वर्ष तक स्वयं को जीवन की सुख-सुविधाओं से वंचित रखा। यहाँ तक कि अपनी मृत्यु के समय भी उनकी टकटकी माँ के चित्र की ओर ही लगी रही।

पुस्तक प्रेम

जीवन में सादगी व आडंबर रहित रहन-सहन को विद्यासागरजी के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग कह सकते हैं। अपने जीवनकाल में उन्होंने बहुत सा धन कमाया, किंतु वह उनके अपने लिए नहीं, उनके देश की निर्धन, असहाय व भूखी जनता के लिए था। किसी का ऋण उतारना हो या किसी को पुस्तकें दिलवानी हों, किसी की पुत्री का विवाह हो या किसी को गाँव जाना हो, किसी को गरम कपड़े बनवाने हें तो किसी को आवश्यक कार्य़ों के लिए धन चाहिए हो, उनके लिए धन व्यय करने में वे विलंब नही करतेथे।

उन्होंने जीवन में अपने लिए केवल दो वस्तुओं की विशेष रूप से सुविधा ली। एक थी पुस्तकें व दूसरा उनका बगीचा। बगीचे में वे दुर्लभ प्रजाति के पेड़-पौधे लगवाते व अपने हाथों से उसकी देख-रेख करते। मेरे विचार से निर्मल हृदय विद्यासागर प्रकृति के सामीप्य में स्वयं को पूर्ण अनुभव करते होंगे। संभवतः यह प्रभु से एकाकार होने व उसके प्रति आभार व्यक्त करने का एक माध्यम हो।

अब अगर हम दूसरी वस्तु की चर्चा करें तो वे थी, उनकी ‘पुस्तकें’। वे पुस्तक-प्रेमी थे। यह तो पाठक जानते ही हैं। उन्हेंने अल्पायु से ही छात्रवृत्ति से मिले रुपयों से पुस्तक संग्रह आरंभ कर दिया था। उस समय उन्होंने पिता के परामर्श से कुछ ऐसी पुस्तकें भी खरीदीं, जो दुर्लभ थीं। यह पुस्तक-प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया। उन्हें दुष्प्राप्य ग्रंथों व पुस्तकों के संग्रह में विशेष रुचि थी।

जब लक्ष्मी की कृपा हुई तो उनका पुस्तकालय विशेष रूप से अप्राप्य व कीमती पुस्तकों से सजने लगा। वे सब पुस्तकें करीने से सजी रहतीं। वे कभी किसी को अपने पुस्तकालय की पुस्तकें नहीं लेने देते थे। एक बार बाबू नीलांबर मुखर्जी ने किसी ऐतिहासिक संदर्भ के लिए कुछ पुस्तकें माँगी। विद्यासागरजी ने देने से मना कर दिया, किंतु उन्हें पुस्तकों का सेट खरीदकर भेंट कर दिया। उन्होंने पूछा, “विद्यासागरजी! आपने अपने पुस्तकालय से वे पुस्तकें मुझे क्यों नहीं दी?”

तब विद्यासागरजी ने उन्हें बताया कि वे पहले-पहल खुले दिल से अपने पुस्तकालय की पुस्तकें दे दिया करते थे, किंतु धीरे-धीरे तथाकथित मित्रों-परिचितों के व्यवहार से उनका मन उचट गया। कई व्यक्ति पुस्तक ले जाने के बाद लौटाते नहीं थे। कई-कई बार मँगाने पर पुस्तक वापिस भी मिलती तो इतनी दयनीय दशा में होती कि क्या कहा जाए।

एक मित्र ने तो लज्जा की सीमा ही तोड़ दी। वे संस्कृत की एक पुस्तक माँग ले गए। जब काफी समय तक पुस्तक नहीं लौटी तो दयासागरजी भी पुस्तक मँगाने का संदेश भिजवाना

पड़ा। उत्तर आया- "वह तो मैंने बहुत पहले ही लौटा दी थी।"

वह संस्कृत की दुर्लभ पुस्तकों में से थी, जो इसके बाद केवल जर्मन भाषा में थी। पुराने संस्करण समाप्त थे। नया संस्करण मिलने तक उस प्रति के मिलने की कोई आशा नहीं थी। यानी धन व्यय करके भी पुस्तक मिलना मुश्किल था। विद्यासागरजी चुप लगा गए, किंतु कुछ दिन बाद जो दूसरी घटना घटी, उसके कारण उन्होंने हमेशा के लिए निर्णय ले लिया कि चाहे कोई कितना भी निकट जन या आत्मीय क्यों न हो, वे अपने पुस्तकालय की पुस्तकें नहीं देंगे।

हुआ यूँ कि पुरानी पुस्तकें खरीदने-बेचनेवाला व्यापारी उनका जानकार था, वह प्रायः उनके पास आता। पुस्तक-प्रेमी विद्यासागर उसकी बोहनी कराए बिना जाने नहीं देते थे। उस दिन वह आया तो उसके पुस्तक संग्रह को देख विद्यासागर चौंक गए। इसमें तो वही दुर्लभ संस्कृत पुस्तक पड़ी थी, जिसे मित्र महाशय माँगकर ले गए थे।

तो क्या उन्होंने उधार ली गई पुस्तक बेच दी? क्या उन्होंने विद्यासागरजी से झूठ बोला? विद्यासागरजी ने फेरीवाले से तुंत पूछा, "यह पुस्तक कहाँ से मिली?"

"फलाँ महाशय ने बेची है। कह रहे थे कि दुर्लभ पुस्तक है, दाम अच्छे देना। मैंने भी मुँह माँगे दाम पर ली है।"

विद्यासागरजी के पास इसके सिवा कोई उपाय नहीं था कि वे अपनी पुस्तक पुनः खरीदते। उन्होंने फेरीवाले को दुगुने पैसे देकर पुस्तक खरीद ली व किसी को पुस्तक न देने का संकल्प दोहराया। कई बार कुछ गलत लोगों के कारण ऐसे कठोर निर्णय लेने भी पड़ जाते हैं। विद्यासागरजी किताबों के रख-रखाव के बारे में बहुत सजग रहते थे। उनके पुस्तकालय में कोई भी पुस्तक कटी-फटी या बिना जिल्द की नहीं होती थी। सभी पुस्तकों पर महँगी जिल्दें लगी रहतीं व सुनहरे अक्षरों में नाम छपे होते। पुस्तकों की ऐसी दर्शनीय छवि देख एक बार एक धनी आगंतुक ने पूछ ही लिया था, "लगता है, आप यूरोप से इतनी महँगी जिल्दें बँधवाते हैं। भला ऐसा भी क्या शौक!"

विद्यासागरजी ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी ही देर बाद उन्होंने आगंतुक की चादर की प्रशंसा में कहा, "चादर तो बहुत खूबसूरत है। कितने में ली?"

बस इतना पूछने भर की देर थी। उस महाशय ने अपनी महँगी चादर के उद्गम स्थल, उस पर लगी धनराशि, उसकी ख्याति, उसके कपड़े की विशेषता आदि गुणों का विस्तार से वर्णन किया।

विद्यासागरजी बोले, "महाशय! एक साधारण कंबल से भी तो बदन ढाँक सकते थे। इतनी महँगी चादर। ये जेबघड़ी एक मोटे धागे से लटक सकती थी, सोने की चेन क्यों? ऐसा भी क्या शौक?"

यह सुनने के बाद उक्त महाशय को समझ आया कि उस दिन नहले पर दहला पड़ा था।

विद्यासागरजी पुस्तकें उपहार में देने के भी बेहद शौकीन थे। जब वे स्वयं स्कूल-कॉलेज में थे तो उन्हें अनेक पुस्तकें उपहार-स्वरूप मिली थीं। उन्होंने इसी परंपरा को जीवित रखा और उसे आगे बढ़ाया। वे स्कूल-कॉलेज के बच्चों को प्रोत्साहन-स्वरूप पुस्तकें ही भेंट में देते थे।

उस समय में जब चंद्रमुखी बोस ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की सबसे ऊँची परीक्षा एम.ए. की डिग्री प्राप्त की तो विद्यासागरजी ने उसे 'कैसेल्स इलस्टेटेड शेक्सपियर' की प्रति भेंट में दी थी। संभवतः वे भली-भाँति जानते थे कि पुस्तकें मनुष्य की सर्वोत्तम मित्र होती हैं। वे सदा सुख-दुख व एकांत तथा रास्तों में आपका संबल बनती हैं और बदले में आपसे कुछ नहीं चाहतीं।

स्नेही गुरुजी

ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी आजीवन छात्रों के स्नेही गुरुजी रहे। उन्होंने विविध रूपों में अपने छात्रों को बालकों की भाँति स्नेह दिया व उनकी हर प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा। इस संदर्भ में उनके जीवन से जुड़ी कुछ घटनाओं पर नजर डालना उचित होगा।

जिन दिनों विद्यासागरजी संस्कृत कॉलेज के आचार्य बने। उन्होंने जाति के आधार पर छात्रों के प्रवेश संबंधी विषय पर रिपोर्ट दी। तत्कालीन परिस्थितियों में सभी जाति के युवकों को कॉलेज में प्रवेश नहीं मिलता था। उनका मानना था कि सभी जातियों के छात्रों को शिक्षा पाने का अधिकार मिलना चाहिए। उन्होंने न केवल इस विषय में रिपोर्ट दी, बल्कि यह बात न मानने पर अपने पद से त्यागपत्र देने की भी बात की।

विरोध करनेवाले अनेक स्वर उनके भी थे, जो स्वयं पंडितजी के गुरु रह चुके थे, किंतु सिद्धांतों का प्रश्न आने पर पंडितजी किसी के आगे नहीं झुकते थे। उन्होंने कहा, “यदि आप लोग धन के लिए अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ा सकते हैं तो जाति का भेदभाव त्यागकर अपने सभी देशवासियों को क्यों नहीं पढ़ाते?”

अंततः जीत उनकी हुई। अधिकारियों ने कॉलेज में कायस्थ लड़कों के प्रवेश की अनुमति दे दी। कुछ समय पश्चात् अन्य जातियों के युवक भी पढ़ने आने लगे व उन्हें धर्मशात्र छोड़कर संस्कृत के सभी विषय पढ़ने की अनुमति मिल गई।

विद्यासागरजी ने अनेक स्कूल-कॉलेज के छात्रों से पेममयी संपर्क रखा। यदि उनके एक और सराहनीय प्रयास की चर्चा करें तो गरमी की छुट्टियों का स्मरण हो आता है। उन्होंने ही बंगाल के सभी स्कूल-कॉलेजों में गरमी की छुट्टियों का प्रावधान किया। उन्होंने देखा कि मई-जून की भीषण गरमी में अध्यापक व छात्र दोनों के लिए ही अध्यापन व अध्ययन करना कठिन हो जाता था।

उन्होंने इस विषय में अन्य अधिकरियों से बात की तो उनकी प्रार्थना मंजूर कर ली गई। तब से स्कूल-कॉलेज गरमी की छुट्टियों के लिए बंद किए जाने लगें। इस निर्णय से छात्र व अध्यापक, दोनों को ही भीषण गरमी के प्रकोप से राहत मिली। छात्र व शिक्षण संस्थाएँ विद्यासागरजी की इस दूरदर्शिता के लिए आभारी रहेंगी।

जब विद्यासागरजी ने मेट्रोपॉलिटन संस्था का कार्यभार सँभाला तो वहाँ अनेक प्रकार के सुधार किए गए। उन्हेंने छात्रों को शारीरिक दंड दिए जाने के विषय में कठोर निर्देश दिए,

किंतु वर्षों से छात्रों की पिटाई करने के अभ्यस्त हाथ इतनी आसानी से कैसे रुकते? अन्य अधिकारियों ने भी उनकी रिपोर्ट को मान्यता दी कि छात्रों को सजा नहीं देनी चाहिए। कुछ समय बाद उन्हें एक अध्यापक के बारे में पता चला कि उसने छात्र को दंड दिया था। विद्यासागरजी ने उसे सेवानिवृत ्त होने पर विवश कर दिया। वे चाहते थे कि उद्‌दंड से उद्‌दंड बालक को भी स्नेह से सुधारा जाए। दंड देने से बालक और भी ढीठ हो जाते हैं।

ऐसी ही एक घटना स्मरण आती है। बात उन्हीं दिनों की है जब वे मेट्रोपॉलिटन संस्था में थे। एक कक्षा के छात्रों द्वारा आज्ञा-पालन न करने पर उन्हें उन सबको बाहर निकालना पड़ा। अगले ही दिन वे सभी छात्र गुरुजी के घर जा पहुँचे व क्षमा-याचना करने लगे। पंडितजी तो स्वभाव से ही दयालु थे। कर्तव्य के कारण छात्रों को उक्त व्यवहार करना पड़ा था। उन्होंने स्नेह विगलित स्वर में कहा, “चलो जाओ! माफ किया, पर फिर से ऐसा मत करना।”

ऐसा लगा मानो बच्चों को कक्षा से निकालकर वे स्वयं ही व्याकुल थे और अब उनके दिल का बोझ हलका हो गया था। बच्चे भी सहज भाव से लौटने लगे। एक ने यूँ ही उपहास में कहा, “बाबा रे! दोपहर चढ़ आई, गुरुजी ने चाय-पानी तक नहीं पूछा।”

ये शब्द विद्यासागरजी के कानों तक भी पहुँचे। वे भागकर सीढ़ियों तक पहुँचे व बच्चों को रोक लिया और उन्होंने कहा, “ठीक कहा, प्यारे बच्चो! मेरा ध्यान जाने कहाँ था। तुम लोगों को जलपान के लिए भी नहीं पूछा। आओ! अब कुछ खा-पीकर ही जाना।”

अब तो उपहास करनेवाले लड़के के साथ-साथ दूसरे बच्चों की भी बन आई। वे सब डर गए और कन्नी काटकर निकलना चाहा। विद्यासागरजी ने पहली मंजिल से ही आदेश देकर बड़ा दरवाजा बंद करवा दिया।

फिर वे स्नेह से सभी बच्चों को एक कमरे में ले आए, उन्हें चायपान कराने के बाद ही अपने यहाँ से जाने दिया।

विद्यासागरजी अपने छात्रों के प्रिय गुरुजी थे। एक दिन छात्रों ने उनसे विनती की कि पौष त्योहार के अवसर पर अवकाश प्रदान किया जाए। विद्यासागरजी मान गए, किंतु साथ ही उन्होंने पूछा, “क्यों भई! अवकाश तो मना लोगे, किंतु मिठाई कहाँ पाओगे? मिठाई के बिना भला क्या त्योहार?”

विद्यासागर जानते थे कि कई बच्चे दूर-दराज के इलाकों से पढ़ने आए थे। वे अपने घर से मीलों दूर थे। छात्र भी कहाँ कम थे। एक ने कहा, “जिसने अवकाश दिया, मिठाई का प्रंध भी वही करेगा।”

पंडितजी ठठाकर हँस दिए और उन्हें घर आने का निमंत्रण दिया। उस दिन बच्चों ने अपने गुरुजी के घर में मजे से दावत उड़ाई।

जिन दिनों विद्यासागरजी संस्कृत कॉलेज में थे। छात्र प्रायः छुट्टी के बाद उनके घर जाते। वे उनसे कई मनोरंजक विषयों पर चर्चा करते। सभी छात्र उनके लिए मित्रवत् थे। छात्रों को उनसे बात करते समय ऐसा लगता ही नहीं था कि वे संस्कृत के किसी विद्वान् व प्रकांड पंडित से बात कर रहे हैं। जब वे स्नेहवश 'तुई' (तुम) कहकर छात्र को संबोधित करते तो उन्हें लगता कि वे मानो कोई आत्मीय जन हों।

पंडितजी प्रायः बिना बताए स्कूलों का निरीक्षण करने जाते। वे जानते थे कि स्वयं को दूसरे से बेहतर व श्रेष्ठ प्रमाणित करना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यदि निरीक्षण की तिथि पहले से पता हो तो प्रंध को विशेष रूप दे दिया जाता है। अतः वे अचानक कक्षा में उपस्थित हो जाते व अध्यापक महोदय को भाषण देते सुनते । कई-कई बार तो अध्यापक-प्राध्यापक को पता भी नहीं चलता था कि पंडितजी उनकी कक्षा में कितनी देर रहे। यदि कोई अध्यापक उनकी उपस्थिति जानकर स्वागत के लिए उठने की चेष्टा करता तो वे हँसकर कहते, "अपनी कुरसी पर बैठे रहो। कहीं ऐसा न हो कि मेरा सम्मान करते-करते तुम अपने कर्तव्य में पीछे रह जाओ।"

एक बार जब वे कक्षाओं के दौरे पर थे तो उन्होंने एक कक्षा में मजेदार दृश्य देखा। गणित के अध्यापक श्यामपट्ट पर प्रश्न हल कर रहे थे। सारी कक्षा बड़े ध्यान से उसे अपनी कॉपी में लिखने में व्यस्त थी, किंतु चौथी पंक्ति में बैठा एक लड़का झपकी ले रहा था।

विद्यासागरजी ने कक्षा में प्रवेश किया तो सबसे पहले उसी पर नजर पड़ी। वे सीधा उसी छात्र की ओर बढ़े। अब तो अध्यापक व छात्र भी उसी ओर देखने लगे। छात्रों को लगा कि हँसने का एक बहाना मिलनेवाला है और अध्यापक को लगा कि उसे डाँट खानी पड़ेगी कि उसकी कक्षा का एक छात्र सो रहा है, किंतु क्या इनमें से कुछ भी सच हुआ, नहीं?

विद्यासागरजी ने उस छात्र के सिर पर स्नेह से हाथ फेरा। वह हड़बड़ाकर जाग गया। अपने सामने गुरुजी के देखा तो स्तब्ध रह गया। काटो तो खून नहीं। पूरी कक्षा में सन्नाटा था। अध्यापक अपने छात्र को डाँटने के लिए आगे बढ़ा, किंतु पंडितजी ने आँख के संकेत से मना कर दिया, उससे बोले, "बेटा! चिकित्सा कक्ष में चलकर थोड़ा आराम कर लो। यहाँ बेंच पर नींद लेने में असुविधा हो रही होगी।"

हम नहीं जानते कि वह छात्र दोबारा सोने के लिए चिकित्सा कक्ष में गया या नहीं, परंतु उस घटना के बाद प्रत्येक कक्षा के छात्र व अध्यापक सजग व चौकन्ने रहने लगे।

विद्यासागरजी ने अपने जीवनकाल में जाने कितने निर्धन छात्रों की फीस भरी और किताबों के लिए पैसे दिए। यह हम बता भी नहीं सकते। घर में सहायता माँगने के लिए आनेवाले छात्र को भी एक सम्मानीय अतिथि की तरह सेवा मिलती।

प्रत्यक्षदर्शी कहते हैं कि विद्यासागरजी स्वयं घर आनेवाले व्यक्ति को अपने हाथों से फल परोसते। उन्हें इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता था कि कोई निर्धन छात्र अपनी फीस माफ करवाने आया है या कोई सरकारी उच्च अधिकारी भेंट करने।

हम निर्धन छात्रों को दी जानेवाली पुस्तकों की चर्चा कर रहे थे। हुआ यूँ कि एक बार एक स्कूली छात्र ने उन्हें पत्र लिखा- “मैं उत्तरपाड़ा के उक्त स्कूल का छात्र हूँ। इस संसार में मेरा कोई नहीं। पड़ोसी ने मुझे अपने यहाँ रखा है। स्कूल में दाखिला तो निःशुल्क है, किंतु मेरे पास पढ़ाई की पुस्तकें नहीं हैं। यदि नाव का किराया पास होता तो मैं नदी पार कर स्वयं आपके पास आता।”

पत्र पढ़ते ही दयासागर का मन पिघल गया। उन्होंने उसी क्षण उस लड़के की कक्षा के हिसाब से पुस्तकें भिजवा दीं। कहते हैं कि यह सिलसिला वर्ष-प्रतिवर्ष चलता रहा। प्रत्येक वर्ष उस लड़के का पत्र आता और वे पुस्तकें भिजवा देते। एक बार उन्हें उत्तरपाड़ा के मुख्याध्यापक से मिलने का अवसर मिला तो उन्होंने उस बच्चे से मिलने की इच्छा प्रकट की, जिसे वे पिछले पाँच वर्षों से पुस्तकें भिजवा रहे थे।

नाम-पता बताने पर स्कूल के मुख्याध्यापक ने कहा कि यहाँ तो ऐसा कोई छात्र नहीं है। विद्यासागरजी हँस दिए।

“आप भी कमाल के मास्टर हैं। अपने ही स्कूल के छात्रों को नहीं पहचानते।”

मुख्याध्यापक ने पुनः स्कूल जाकर पता किया और कहलवाया कि उस नाम का वहाँ कोई बच्चा नहीं पढ़ता। थोडी पूछताछ से पता चला कि स्कूल के पास ही किसी लड़के की पुस्तकों की दुकान थी। वही धोखे से किताबें मँगवाता और उन्हें बेच देता।

यदि पंडितजी के स्थान पर कोई और होता तो निश्चित रूप से क्रोधित होता । उन्होंने उसे क्षमा कर दिया, किंतु दुखी हृदय से इतना अवश्य कहा, “जिस धरती पर ऐसे कपटी बच्चे जन्म लेंगे, भला उनका सुधार कैसे संभव होगा?”

विद्यासागरजी के जीवन का अधिकांश समय स्कूल, कॉलेज व छात्रों के बीच ही बीता। उन्होंने देश में त्री शिक्षा की आवश्यकता पर भी विशेष रूप से बल दिया। वे वेथ्यून महिला स्कूल से संबद्ध थे।

वे विविध रूपों में संस्थाओं के छात्रों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते। उन्होंने 1865 में एक स्कूल के पुरस्कार वितरण समारोह में सबसे अच्छे अंक पाकर उत्तीर्ण होनेवाली छात्रा को अपना पर्स व सोने की चेन उपहार में दे दी थी।

विद्यासागर शॉट

विद्यासागर ने हमें बांग्ला भाषा के कलात्मक प्रयोग की राह दिखाई। उससे पूर्व हमारी भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं था, वह अनुशासनहीन भीड़ की तरह लेखकों के नियंत्रण से बाहर थी। वे उसे नियंत्रण में लाए। भाषा को अनुशासनबद्ध किया। उन्होंने बांग्ला भाषा में विराम व अर्धविराम जैसे विरामचिह्न चलाए। इसके बाद भाषा में एक नए युग का प्रारंभ हुआ। जो भाषा पहले जड़ व बेतुके शब्दों का समूहमात्र व असंबद्ध थी, वही गतिशील व चेतन बन गई।

विद्यासागरजी ने भाषा को भावनाओं की अभिव्यक्ति में समर्थ बनाया। उपयुक्त उपसर्ग, प्रत्यय आदि जोड़कर रचना तथा विन्यास का ढाँचा बदला और शब्दों को नए अर्थ प्रदान किए। अशुद्ध बांग्ला शब्दों के परिमार्जन के बाद भाषा को संस्कृत की आलंकारिकता से मुक्त किया।

विद्यासागरजी ने ही बांग्ला भाषा को गँवारूपन, पंडिताऊपन व भद्देपन के चंगुल से बचाया। वह समुचित होकर विश्व की सबसे सभ्य आर्य भाषाओ की बराबरी करने लगी। यह कार्य उनकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों में से एक था।

गुरुदेव ने कहा कि विद्यासागर की सबसे बड़ी उपलब्धि है-बांग्ला भाषा। यदि कभी बांग्ला भाषा साहित्य व सौंदर्य से संपन्न हुई या इसे उच्च विचारों के स्थायी स्रोत के रूप में दुनिया की अन्य भाषाओं के समान आदर मिला तो विद्यासागर की इस महान् उपलब्धि को ही गौरव प्राप्त होगा।

विद्यासागरजी ने बांग्ला गद्य में कला के तत्त्वों का समावेश किया। उन्होंने इस भाषा को आधुनिक विचारों का वाहक बनाने में योगदान दिया।

विद्यासागरजी कभी प्रत्यक्ष रूप से पत्रकारिता के क्षेत्र में नहीं आए, किंतु वह अनेक तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े रहे। जिनमें सोमप्रकाश, हिंदू पैट्रियट, तत्त्वबोधिनी व सर्वशुभकारी आदि उल्लेखनीय हैं।

वे 'तत्त्वबोधिनी' से काफी लंबे समय तक संबद्ध रहे। वे पत्र समिति के सदस्य थे, इस समिति के पास ही रचनाएँ चुनने का अधिकार था। संपादक अक्षय कुमारजी विद्यासागर से विशेष रूप से प्रभावित थे। स्वयं विद्यासागर की रचनाएँ भी पत्रिका में प्रकाशित होती थीं।

‘सोमप्रकाश’ का प्रकाशन 1858 में हुआ। माना जाता है कि स्वयं विद्यासागरजी ने ही इसके पहले अंक को तैयार किया, किंतु बाद में इसका सारा उत्तरदायित्व द्वारकानाथजी को सौंप दिया, क्योंकि वे बीमार होने के कारण कार्यभार नहीं सँभाल पा रहे थे। ‘सोमप्रकाश’ में विविध विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे, जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रभाव डाला।

‘सर्वशुभकारी’ पत्रिका के संपादक तो मतिलाल चट्टोपाध्याय थे, किंतु विद्यासागरजी व मदनमोहन तर्कालंकारजी ही इसका कार्यभार सँभालते थे। समाज-सुधार पर विशेष रूप से बल देनेवाली यह पत्रिका एक वर्ष में ही बंद करनी पड़ी, किंतु बँगला समाज पर इसके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता।

‘हिन्दू पैट्रियट’ एक अंग्रेजी पत्र था। हरीशचंद्र मुखर्जी व कृष्टोदास पाल इसके संपादक थे। तत्कालीन शिक्षित बंगाली समाज में इस पत्र का बड़ा मान था। पत्र पर संकट उत्पन्न हुआ तो विद्यासागरजी ने ही संचालन की बागडोर सँभाली। उन्होंने ही कृष्टोदास पाल को इसका संपादकत्व सौंपा तथा बाद में ट्रस्टियों की एक समिति भी बना दी।

इस समाचार-पत्र ने बंगाल के मध्यवर्ग को अपनी बात कहने व माँगों की हिमायत करने के लिए एक मंच प्रदान किया। इस प्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से सामने न आने पर भी विद्यासागरजी अपने पुस्तकों के लेखन-प्रकाशन व विविध पत्रों की संबद्धता के कारण इस क्षेत्र से जुड़े रहे।

विद्यासागरजी हमेशा से ही मातृभाषा के उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहे। जब-जब अपने जीवनकाल में प्रशासनिक कालों से अवकाश मिला तो उन्होंने इसी क्षेत्र को अपनी सेवाएँ दीं। उन्हेंने पुस्तक प्रकाशन तथा विक्रय के लिए संस्कृत पेस व डिपोजिटरी की स्थापना की, ये परस्पर सहयोगी संस्थान थे।

ये दोनों संस्थान कालांतर में काफी प्रसिद्ध हुए तथा उनकी आर्थिक संपन्नता का प्रमुख आधार बने। उन्होंने न केवल पुस्तकें लिखीं, बल्कि अपनी व मित्रों की पुस्तकों के प्रकाशन व विक्रय का उत्तरदायित्व भी सँभाला। सार्वजनिक सेवा-कार्य से अवकाश पाने के बाद मुद्रणालय व प्रकाशन-गृह ही उनकी जीविका के साधन बने।

इसी कार्य के दौरान उन्हें मुद्रण से जुड़ी कठिनाइयों का पता चला। दरअसल, बांग्ला भाषा की कंपोजिंग में टाइप रखने के लिए लगभग पाँच सौ बक्सों की आवश्यकता पड़ती थी। उन्होंने इस व्यवस्था से उत्पन्न जटिलता को समझा व सरल रूप देने के लिए काफी परिश्रम किया। इस व्यवस्था को सरल व वैज्ञानिक बनाने का श्रेय विद्यासागरजी को ही जाता है।

मुद्रण कला में उनका यह योगदान अविस्मरणीय है तथा बांग्ला प्रेस के कर्मचारी इस सरल व्यवस्था को ‘विद्यासागर शॉट’ के नाम से जानते हैं।

चप्पल संस्मरण

जी हाँ, यह शीर्षक पढ़ने में भले ही विचित्र क्यों न जाने पड़े। विद्यासागरजी के जीवन में ये चप्पल संस्मरण कम महत्त्व नहीं रखते। ये संस्मरण हमें एक ऐसे हठी, उत्साही, उद्यमी व देशपेमी व्यक्तित्व से परिचित करवाते हैं, जिसने अपने देश की सभ्यता व संस्कृति का मान बनाए रखने के लिए आजीवन प्रयत्न किया व किसी के भी सामने देश के गौरव को झुकने नहीं दिया।

हम नहीं जानते कि इन घटनाओं में कल्पना का कितना अंश है, किंतु इनमें जितना भी यथार्थ है, वही विद्यासागरजी के उदात्त चरित्र का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

उन दिनों विद्यासागरजी कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के आचार्य थे। इतने उच्च पदों पर पहुँचने के बावजूद वे देशी पहनावे में ही रहना पसंद करते थे। पाँव में मुड़ी नोंकवाली चप्पल व शरीर पर धोती-चादर। वे अपनी इस पोशाक के विषय में इतने सजग रहते कि किसी को भी इस विषय में फेरबदल की अनुमति नहीं देते थे। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर सर फ्रेडरिक हॉलीडे उनके परामर्शों की कद्र करते थे। वे प्रायः विशेष मुद्दों पर चर्चा के लिए उन्हें अपने घर बुला लेते। विद्यासागरजी एक-दो बार तो औपचारिक पोशाक में गए, किंतु फिर बोल ही पड़े-

"यदि मुझे अपने सादे पहनावे में न जाने दिया गया तो संभवतः मैं वहाँ आना ही नहें चाहूँगा।"

गवर्नर ने उनकी इस माँग को वैध ठहराया व उन्हें उनके मनचाहे पहनावे में आने की अनुमति दे दी। यह तो हुई पहनावे की बात। दरअसल, इस पहनावे के साथ पहनी गई चप्पल अकसर चर्चा का विषय रही।

विद्यासागरजी उस समय कई अंग्रेज अधिकारियों के साथ व अधीन कार्य करते थे, किंतु कभी भी ऐसा अवसर नहीं आने दिया कि उन्हें आंग्ल शासकों की जी-हजूरी करनी पड़े या उनके आगे सिर झुकाना पड़े। वे बहुत स्वाभिमानी थे।

एक बार वे कॉलेज के काम से शिक्षा विभाग के दफ्तर में पहुँचे। अंग्रेज प्रिंसिपल कैर ने न तो उनका स्वागत किया और न ही सामान्य शिष्टाचार निभाया। वे अपने मेज पर जूतें सहित पैर फैलाए बैठे रहे। विद्यासागरजी ने खड़े-खड़े अपनी बात खत्म की व कॉलेज लौट आए। कुछ दिन बाद कैर को विद्यासागरजी के दफ्तर आना पड़ा। विद्यासागरजी ने उस अकड़ू अंग्रेज से बदला चुकाने की ठानी। वे भी मेज पर पाँव फैलाकर उसी तरह बैठ गए।

बस अंतर इतना था कि इस बार पाँवों में जूतों की जगह देसी चप्पलें थीं। प्रिंसिपल कैर को बैठने तक को नहीं कहा। एक हिंदुस्तानी पंडित की इतनी मजाल कि वह अंग्रेज अधिकारी से ऐसा व्यवहार करे। वह गुस्से से तमतमाता हुआ लौट गया।

कहना न होगा कि उसने जाते ही शिक्षा समिति के प्रधान डॉ. मोआट को एक हिंदुस्तानी की बदतमीजी की शिकायत की। मोआट ने उसका पत्र रख लिया व विद्यासागरजी से यूँ ही पूछा कि 'आखिर हुआ क्या था?' विद्यासागरजी हँसकर बोले, "मैं तो एक छोटा सा हिंदुस्तानी आदमी हूँ। मुझे यूरोप के शिष्टाचार के तौर-तरीके भला कहाँ से आएँगे। कुछ दिन पहले जब मैं मि. कैर से मिलने गया तो वे भी मेज पर जूतों समेत पैर फैलाए बैठे थे। उन्होंने न तो मेरे अभिवादन का प्रत्युत्तर दिया और न ही मुझे बैठने को स्थान दिया। मैं अपनी बात कहकर लौट आया, किंतु उस दिन यही सीखा कि संभवतः यह कोई नया शिष्टाचार हो।"

"अब जब वे मेरे यहाँ आए तो उनका सम्मान करना भी तो मेरा कर्तव्य बनता है, इसलिए मैंने सोचा कि मुझे भी वही शिष्टाचार अपनाना चाहिए। यहाँ अंतर केवल इतना था कि उनके पाँव में जूते थे और मैंने चप्पल पहन रखी थीं। उन्हें नाराज करने का मेरा कोई इरादा नहीं था।"

मुआट भी इस स्पष्टीकरण का क्या उत्तर देते। वे सारी बात समझ गए व मुसकराकर मामले को वहीं रफादफा कर दिया।

ऐसी ही एक दूसरी घटना ने भी काफी तूल पकड़ा। 1874 में विद्यासागरजी को एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय व भारतीय संग्रहालय का निरीक्षण करने का निमंत्रण दिया गया। उन दिनों भारतेंदु हरिश्चंद्र भी बनारस से आए हुए थे। वे भी उनके साथ हो लिये। पंडितजी हमेशा की तरह अपनी धोती चादर व चप्पलों में थे तथा मित्र ने अचकन पोशाक के साथ अंग्रेजी फैशन के जूते पहन रखे थे।

इमारत के बाहर पहुँचे तो द्वारपाल ने भारतेंदुजी को तो भीतर जाने दिया, किंतु पंडितजी से बोला, "आप अपनी चप्पलें बाहर ही उतार दें।"

विद्यासागरजी तो भवन देखे बिना ही लौट आए। साथ ही उनके मित्र ने भी अंदर जाना ठीक नहीं समझा। वहाँ से लौटकर उन्होंने भारतीय संग्रहालयों के ट्रस्टियों के अवैतनिक सचिव को पत्र लिखा-

"पिछली 28 जनवरी को मुझे एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल का पुस्तकालय देखने के लिए निमंत्रित किया गया था। मैं वहाँ पहुँचा तो मुझे मेरी देसी चप्पलों के साथ भवन में जाने की अनुमति नहीं दी गई।"

"मैं इस अपमान को सहन नहीं कर पाया और वहाँ से लौट आया। लौटते वक्त मेरी नजर उन व्यक्तियों पर पड़ी, जो वहाँ देसी चप्पलें पहनकर आए थे। कुछ की चप्पलें बाहर ही

उतरवा दी गई थीं तो कुछ हाथ में चप्पलें थामें संग्रहालय के अहाते में घूम रहे थे, जबकि अंग्रेजी फैशन के जूते पहने व्यक्ति साधिकार घूम रहे थे। उनके जूतों पर किसी भी तरह की कोई पाबंदी नहीं थी।"

"मुझे तो यह समझ नहीं आता कि अगर अंग्रेजी फैशन के जूते पहननेवाले भीतर जा सकते हैं तो देसी चप्पलें पहननेवालों ने कौन सा पाप किया है? क्या देसी जूते-चप्पल पहननेवाले संग्रहालय देखने का अधिकार नहें रखते या उनकी बुद्धि इन बातों के लिए छोटी पड़ती है?"

पत्र पढ़कर सचिव महोदय ने बात को दबाना चाहा, किंतु मामले ने तूल पकड़ ही लिया। तत्कालीन समाचार-पत्रों ने पूरी दिलचस्पी के साथ चुटकियाँ लीं। यहाँ तक कि अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने भी सोसाइटी के इस नियम की निंदा की। 'इंग्लिशमैन' ने इस मजेदार 'चप्पल कांड' के विषय में लिखा-

"चप्पल समस्या पुनः एशियाटिक सोसाइटी जैसी संस्था की परिषद् का ध्यान अपनी ओर खींच रही है।" देशवासियों की अमूल्य सेवा करनेवाले विद्यास ागर विद्वत्ता, नम्रता व विविध गुणों के भंडार हैं, उनका यश एशिया से भी बाहर दिग-दिगंत तक फैला है। उनकी ओर से शिकायत आई कि उन्हें देशी चप्पल पहनने के कारण एशियाटिक सोसाइटी के अंदर नहीं जाने दिया गया। यह शिकायत अधिकारियों के लिए उलझन बन गई है। वे समझ नहीं पा रहे कि इन परिस्थितियें में क्या किया जाए।

"हम तो यही राय देंगे कि ऐसा नियम हटा दिया जाए, जो पुस्तकालय की उपयोगिता पर ही प्रश्न-चिन्ह लगा रहा है। यदि पंडित विद्यासागर जैसे महापुरुष ऐसे नियम के कारण वहाँ जाने में हतोत्साहित होते हैं तो उस नियम की क्या सार्थकता शेष रह जाती है।"

"यदि चमड़े के प्रति आदर का भाव होना आवश्यक ही है, तब तो उसके रूप और आकार के भी कोई मायने नहीं होते, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हों। हम आशा करते हैं कि एशियाटिक सोसाइटी की परिषद् व संग्रहालय के ट्रस्टियों को अवश्य ही सुबुद्धि आएगी तथा वे भारतीयों को यह महसूस नहीं होने देंगे कि उनका कक्षों तथा भवनों में जाने का अर्थ है, अपना अपमान करवाना।"

इस प्रकार विद्यासागरजी की देसी चप्पलें उनके देश के प्रति स्वाभिमान की सूचक थीं। वास्तव में उनकी मानसिक शक्ति व नैतिक साहस अतुलनीय थे। एक दिन शिवनाथ शात्रीजे से चप्पल प्रकरण पर चर्चा करते समय पंडित विद्यासागरजी ने कहा, "हाँ! प्रिय मित्र, यह हमारे देश की बनी चप्पल है और मुझे इसका बड़ा मान है। इसे पहनकर मैं स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता हूँ। जानते हो, इसमें कितना नैतिक बल है। यदि इसकी शान व आन पर बन आई तो मैं यही चप्पल बड़े-से-बड़े राजा-महाराजा के मुँह पर मार सकता हूँ।"

विद्यासागरजी अपने जीवनकाल में ऊँचाइयों तक पहुँचे। जनता का स्नेह पाया। विविध

स्नेह पुरस्कारों व सम्मानों से महिमामंडित हुए, किंतु उन्होंने अपनी सादा वेशभूषा नहीं बदली। उन्हें अपने व्यक्तित्व को प्रभावी बनाने के लिए किसी भी प्रकार के बाह्य आडंबर या वेशभूषा की आवश्यकता नहीं थी। उनके आंतरिक गुणों का प्रकाश ही आभामंडल को द्विगुणित करने के लिए पर्याप्त था। जहाँ तक उनकी चप्पलों का सवाल है। वे कभी भी उनके मामले में समझौता करने के लिए तैयार नहीं हुए, तभी तो रवींद्रनाथ ठाकुर ने उनकी चप्पलों के विषय में लिखा- "वे चप्पलें उनके दृढ़ व्यक्तित्व की परिचायक थीं।"

मोती या कौड़ियाँ

महान् संत रामकृष्ण परमहंस ईश्वरचंद्रजी के समकालीन थे। उस समय के सभी महान् व्यक्तित्व प्रायः परमहंसजी से भेंट करते। परमहंसजी ने विद्यासागरजी के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था, किंतु कभी भेंट का अवसर नहीं मिला था। अतः एक दिन वे स्वयं ही अपने शिष्यों सहित विद्यासागरजे से मिलने आ पहुँचे।

विद्यासागरजी यथोचित स्वागत-सत्कार के बाद उन्हें भीतर ले आए। इससे पहले कि वे उन्हें स्थान दे पाते, परमहंसजी जमीन पर ही बैठ गए। विद्यासागर ने भी कुरसी छोड़ी व जमीन पर बैठ गए। परमहंसजी ने कहा, “मैं अनेक दलदलों, तालाबों व तालों को पार करते हुए अंततः सागर तक पहुँचा हूँ।”

विद्यासागर ने प्रत्युत्तर दिया-घनिस्देंह आपके पधारने से मैं कृतार्थ हुआ, किंतु मैं वह सागर नहीं, जिसकी तलाश में आप हैं। यदि चाहें तो इस सागर का खारा पानी ले जा सकते हैं। यदि जाल डालें तो शायद कुछ कौड़ियाँ हाथ आ जाएँ, इस सागर में और कुछ नहीं है।

परमहंसजी हँसकर बोले, “मैं खारा जल क्यों ले जाऊँगा? यह खारे पानी का सागर नहीं, यहाँ तो प्रेम, दया, स्नेह व करुणा का क्षीरसागर है। यदि लेना ही है तो यहाँ से मोती लेकर लौटूँगा। आप तो ज्ञान के सागर हैं। यदि यहाँ से ज्ञान के दो मोती भी पा गया तो आनंद आ जाएगा।”

इस प्रकार थोड़ी देर तक दोनों में हास-परिहास चलता रहा, फिर उन्होंने विविध विषयों पर गंभीर चिंतन-मनन किया। इसी दौरान विद्यासागरजी के यहाँ वर्दवान से स्वादिष्ट मिठाई आई।

विद्यासागरजी ने जिस स्नेह से वह मिठाई परमहंसजी को परोसी। उन्होंने उसी सहज स्नेह से उसका स्वाद भी लिया व तृप्त होकर लौटे। ज्ञातव्य है कि परमहंसजी यूँ ही सबके यहाँ कुछ नहीं खाते थे। विद्यासागर सरीखी महान् आत्मा के हाथों खाना उन्हें अवश्य ही भाया होगा।

बाद में जब उनकी जीवनी लिखी जा रही था, तो उन्होंने अपने जीवनीकार से विद्यासागरजी के विषय में कहा था-

“विद्यासागर एक महान् संन्यासी हैं। इनसे बड़ा और कौन संन्यासी हो सकता है। मानव जाति के कल्याण के लिए वह अपना धन-संपत्ति, सुख-भोग आदि सबकुछ बलिदान कर

चुके हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि परमार्थ चिंतन के आगे उन्हें व्यक्तिगत मुक्ति की भी चाह नहीं है। यही उनका सबसे बड़ा त्याग है। उन्होंने दूसरों के हित व कल्याण के लिए अपने कल्याण को भी भुला दिया।"

परमहंसजी ने कितनी आसानी से विद्यासागरजी के जीवन को बाँट दिया। सामाजिक हित व कल्याण के लिए स्व-चिंतन से मुँह मोड़नेवाले विद्यासागरजी के द्वार से याचक कौड़ियाँ नहीं, मोती लेकर लौटता था। उनके जीवन में जाने कितने ऐसे प्रंग घटे थे, जहाँ जरूरतमंद व्यक्ति को यह तक पता नहीं चलता कि उसकी सहायता किसने की है। कहते हैं न, दान ऐसे देना चाहिए कि बाएँ हाथ को भी पता न चले।

एक दिन वे मित्र के साथ कार्नवालिस स्क्वायर पर टहल रहे थे। अचानक भागीरथी स्नान से लौटता एक ब्राह्मण दिखाई दिया। चेहरे पर चिंता की रेखाएँ थीं और आँखों से आँसू उमड़ रहे थे। विद्यासागरजी ने पूछा, "क्यों भाई, रोते क्यों हो?"

ब्राह्मण ने प्रश्नकर्ता के चेहरे की ओर देखा। सादी पोशाक में एक साधारण सा व्यक्ति। उसने सोचा कि इस व्यक्ति को बताने से भी क्या लाभ? यह मेरी क्या मदद कर पाएगा।

वह प्रश्न की उपेक्षा कर आगे बढ़ने लगा। विद्यासागरजी ने फिर से पूछा,

"भाई, बोलो तो सही, इतने व्यथित क्यों हो?" स्नान करके लौट रहे हो। प्रभु का नाम लेने की बजाय रोते जा रहे हो।

उसने बताया, "मैंने पुत्री के विवाह के लिए ऋण लिया था, किंतु उसे अदा नहीं कर सका। अब ऋणदाता ने छोटी अदालत में मुकदमा दायर कर दिया है। परसों ही मुकदमे की सुनवाई है।"

विद्यासागरजी ने उसका नाम-पता, मामले का नंबर व बाकी सारी जानकारी लिख ली। फिर वे वहाँ से चल दिए।

ब्राह्मण ने सबकुछ बता तो दिया था, किंतु उसे इतनी सी भी आशा नहीं थी कि कुछ हो पाएगा। इससे पहले वह बड़े-बड़े जानी-मानी व्यक्तियों से सहायता की गुहार लगा चुका था। जब वे ही कुछ नहीं कर सके तो वह साधारण सा दिखनेवाला व्यक्ति भी क्या कर सकता था।

विद्यासागरजी ने सीधा अदालत में जाकर पूछताछ की तो पता चला कि ब्राह्मण झूठ नहीं बोल रहा है। उस -व्यक्ति पर ब्याज सहित 2,400 रुपए का ऋण था। अगले दिन उन्हेंने उस व्यक्ति का सारा उधार चुका दिया। साथ ही अधिकारियों को सावधान भी किया कि बीच में उनका नाम नहीं आना चाहिए। ऋणदाता को यही लगना चाहिए कि ऋण लेनेवाले ने उसका उधार चुका दिया है।

अगले दिन वह ब्राह्मण अदालत में पहुँचा तो देखा कि मामला तो खारिज हो गया था।

उसने अपने लिए भगवान् बनकर आनेवाले दानी सज्जन का नाम-पता जानने की बहुत चेष्टा की, किंतु सागर का मोती लुटानेवाली लहर का भी भला कोई नाम-पता होता है?

चारित्रिक गुण

ईश्वरचंद्र विद्यासागरजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने समाज सुधार से जुड़े किसी एक पक्ष को ही अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाया। वे तो मानो मानव जाति के बहुविध कल्याण के लिए ही जनमे थे। जब भी किसी एक उद्देश्य से सफलता पाते तो थमकर प्रशस्ति वर्षा व करतल ध्वनि की प्रतीक्षा करने की बजाय दूसरे महती उद्देश्यों में मन रमा लेते।

उन्होंने अपने जीवनकाल में ऐसी कई योजनाओं पर ध्यान दिया, जो समाज के विघटन व दुखों को दूर करने में सहायक हो सकती थीं। ऐसी ही एक योजना थी 'हिन्दू परिवार वार्षिकी कोष'।

तत्कालीन हिंदू समाज संयुक्त परिवार प्रथा पर आधारित था। यदि परिवार में एक कमानेवाला होता तो कम-से-कम दस-बारह या इससे भी अधिक खानेवाले होते। जिनमें प्रायः बच्चों, त्रियों, वृद्धजन तथा आश्रितों की संख्या ही अधिक होती।

परिवार के मुखिया की मृत्यु होते ही पूरे परिवार पर आर्थिक विपदा के बादल छा जाते। पूरा परिवार दो जून की रोटी के लिए तरसता। स्वयं विद्यासागर ने कितने ही ऐसे परिवारों को आर्थिक असुरक्षा के तनाव व पीड़ा से जूझते देखा था।

15 जून, 1872 को 'हिन्दू परिवार वार्षिकी कोष' की स्थापना की गई। विद्यासागरजी चाहते थे कि निम्न-मध्यमवर्गीय परिवार के आश्रितों के लिए कुछ आर्थिक सुरक्षा का प्रंध हो सके। इस कोष का उद्देश्य था कि यदि कोई अपनी मृत्युपर्यंत परिवार के भरण-पोषण के लिए कुछ राशि दिलवाना चाहे तो उसे मृत्युपर्यंत वार्षिक कोष में एक नियत राशि जमा करवानी पड़ती।

मेट्रोपॉलिटन संस्था में ही इस कोष की पहली बैठक आयोजित की गई। न्यायाधीश द्वारकानाथ मित्र, रमेशचंद्र मित्र, महाराजा यतींद्र मोहन ठाकुर व विद्यासागरजी कोष के ट्रस्टी बने। प्रारंभ में दस सदस्यों ने चंदा दिया व कुछ दानी सज्जनों ने भी दान दिया।

कुछ वर्ष़ों तक तो कोष सही तरह से चलता रहा, किंतु धीरे-धीरे कोष के कार्य़ों में अनियमितता आने लगी। विद्यासागरजी को यह कोताही सहन न हुई तो उन्होंने कोष से संबंध-विच्छेद करने का निर्णय ले लिया। उन्हें लग रहा था कि ट्रस्टी कोष के नियमों की अवहेलना कर रहे हैं। उन्होंने अपने पत्र में अपनी स्थिति स्पष्ट की-

“आप लोग चाहते हैं कि मैं ट्रस्ट से अपना संबंध बनाए रखूँ, किंतु जब देखता हूँ कि आपके अनुरोध का पालन मेरे लिए कठिन होता जा रहा है। जब कई व्यक्ति मुझसे पूछने आते हैं कि वे कोष में पैसा डालें अथवा नहीं, तो मेरे लिए बड़ी दुविधा हो जाती है। मैं कोष की वर्तमान अवस्था को देखते हुए उन्हें कोष में पैसा जमा कराने का परामर्श नहीं दे सकता, किंतु किसी को पैसा जमा कराने से रोकना भी अनुचित होगा, क्योंकि वह कोष के हक में नहीं है।”

“अब जबकि मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि आनेवाले समय में यह कोष ठीक तरह से नहीं चल पाएगा, इसलिए मेरे द्वारा चंदा जमा कराने का परामर्श देना एक धोखा ही होगा। जानबूझकर किसी को गलत परामर्श देना व कोष से जुड़े रहकर उसके हक में काम न करना, दोनों ही बातें मुझे गलत जान पड़ती हैं। ऐसी स्थिति में कोष से संबंध बनाए रखने से मेरी दुविधा का अंत नहीं हो पाएगा। यही कारण है कि मैं इस कोष से अपना संबंध तोड़ना चाहता हूँ।”

इस प्रकार विद्यासागरजी ने अपनी अंतरात्मा के स्वर को वरीयता दी व कोष से नाता तोड़ लिया। यदि प्रत्यक्ष रूप से वे इस दुविधा को न स्वीकारते तो उनके ऊपर उँगुली उठानेवाला कोई न था। किंतु उन्होंने हमेशा न्याय, अखंडता व ईमानदारी का साथ दिया।

आगे चलकर सरकार को लगा कि वह संस्था मध्यम वर्ग के हित में ही काम कर रही है। इसलिए उसने सारा कार्यभार अपने ऊपर ले लिया। यह घटना विद्यासागरजी की चारित्रिक विशेषता पर प्रकाश डालती है।

इस संदर्भ में एक और घटना स्मरण आती है। विद्यासागरजी का अपने पैतृक गाँव वीरसिंह से गहरा लगाव था। वे चाहे जितने भी समृद्ध व संपन्न क्यों न हो गए, उन्होंने अपनी जड़ों से नाता नहीं तोड़ा; किंतु एक बार एक ऐसी घटना घटी कि उन्हें अपने ही गाँव से संबंध-विच्छेद करने का निर्णय लेना पड़ा। यह निर्णय भी उसी मानसिकता की देन थी, जो दिए गए वचन का पालन न कर पाने के कारण क्षुब्ध थी।

हुआ यूँ कि उन्होंने गाँव के हालदार परिवार को विधवा-विवाह के विषय में एक वचन दिया था। हालदार निश्चिंत थे कि विद्यासागरजी उक्त विवाह नहीं होने देंगे, किंतु उसी रात विद्यासागरजी के भाइयों ने दूसरे गाँववासियों की सहायता से वह विवाह संपन्न करवा दिया। विद्यासागरजी को अगले दिन इस विषय में पता चला तो वे क्षुब्ध हो गए। उनके अपने ही गाँववासियों ने उनके निर्णय के विरुद्ध जाकर अपनी कृतघ्नता दरशा दी थी।

विद्यासागरजी बोले, “मैं अपने वचन का पालन नहीं कर पाया। अतः पुनः इस गाँव में लौटकर नहीं आऊँगा।”

यद्यपि विद्यासागरजी वर्षों तक वहाँ नहीं गए, किंतु उन्होंने गाँव में निर्धन व्यक्तियों को दी जानेवाली चंदे की राशि, संस्थाओं को दिए जानेवाली दान राशि पर रोक नहीं लगाई। जब कभी कोई उनके गाँव की बातें करता तो उनकी आँखों से आँसू गिरने लगते। वे अपने प्रिय

गाँव की मधुर स्मृतियों को कभी भुला नहीं पाए। कहते हैं कि इस घटना के लगभग बीस वर्ष बाद उन्हें वीरसिंह गाँव से एक पत्र मिला, जिसमें गावँवालों ने उनसे गाँव लौटने का आग्रह किया था।

अपने गाँववासियों की करुण अपील से उनका दिल पिघल गया और उन्होंने एक बार गाँव जाने का फैसला किया। उन्होंने अपने टूटे घर की मरम्मत के आदेश दिए, किंतु इसी बीच वे बीमार पड़े और सारी योजना धरी-की-धरी रह गई। उसी रोगावस्था में उनके प्राण जाते रहे। संभवतः भगवान् नहीं चाहता होगा कि अपनी बात के धनी विद्यासागरजी का वचन टूट जाए।

पुस्तक-लेखन

"विद्यासागरजी ने 1855 में 'वर्ण-परिचय' नाम से बँगला शिशुबोध भी लिखा था। वह आधुनिक शिक्षा-पद्धति पर आधारित अपने ही प्रकार की बँगला पुस्तक थी। लगभग सौ वर्ष तक बंगाल में उस 'वर्ण-परिचय' का बोलबाला रहा। प्रत्येक बंगाली बच्चे को अपने विद्यासागर से ही इसे पढ़ना पड़ता है। दो आना कीमत की पुस्तक के लेखक और फिर समाज-सुधारक के रूप में बंगाल का हर आदमी विद्यासागर को जानता है।

जल पड़े पाटा पढ़े

"यह तो मानो मेरे लिए प्रथम कवि का प्रथम पद्य था। मैं तब तक जल सरीखे वर्ण-विन्यास सागर से पार आ चुका था। तभी मैंने ये शब्द पढ़े। अभी तक याद है कि किस तरह इन लययुक्त शब्दों ने मेरे हृदय में प्रसन्नता की हिलोर भर दी थी। पहली बार जाना कि काव्य में लय की आवश्यकता क्यों होती है। इसी लय के कारण ही, कवि का कथन उसके शब्दों के साथ समाप्त नहीं होता। शब्दों की गूँज मस्तिष्क पर यथेष्ट प्रभाव डालती है। मुझे इन पंक्तियों का वातावरण अपने अंदर महसूस हुआ तथा वृक्षों की पत्तियाँ सन-सन करतीं संगीत की ध्वनियाँ बिखेर रही हैं।"

(-जीवनस्मृति ; रवींद्रनाथ ठाकुर)

रवींद्रनाथ ठाकुर के इन शब्दों में विद्यासागरजी के लिए कितना ममत्व छिपा है। वह तो पाठकगण देख ही चुके हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकारा कि शब्दों की गूँज मस्तिष्क पर यथेष्ट प्रभाव डालती है। विद्यासागरजी ने बड़ी गहराई से वर्णमाला पढ़ाने के इस माध्यम के अभाव को समझा व उसे पूरा करने का प्रयत्न किया। उन दिनों बँगला में वर्णमाला पढ़ाने के लिए कोई पुस्तक नहीं थी। प्रत्येक अध्यापक अपने ही तरीके से छात्रों को पढ़ाता था। यह जरूरी नहीं था कि प्रत्येक अध्यापक की अध्यापन शैली नन्हे छात्रों की मानसिकता के अनुकूल ही हो।

उस समय विशेष रूप से वर्ण-परिचय का स्वागत हुआ। यहाँ तक कि आज भी इतने रंगीन संस्करण बाजार में होने के बावजूद इन कायदों का अपना स्थान है। प्रत्येक नन्हा छात्र इसी से ककहरा सीखने का प्रयत्न करता है।

इसके बाद भी विद्यासागर ने छात्रों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए 'बोधोदय', 'कथामाला' व 'चरितावाली' नामक पुस्तकें लिखीं। 'बोधोदय' में वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान किया गया, 'कथामाला' ईसप की कथाओं के नमूने पर तैयार की गई तथा 'चरितावाली'

में महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ संकलित थीं।

विद्यासागरजी चाहते थे कि छात्र संस्कृत के माध्यम से अपने देश की सभ्यता-संस्कृति का ज्ञान पाने के साथ-साथ अंग्रेजी का ज्ञान भी अर्जित करें। उन्होंने वैकल्पिक रूप में ली जानेवाली अंग्रेजी को छात्रों के लिए अनिवार्य विषय में बदला, ताकि छात्र दोनों भाषाओं से प्राप्त ज्ञान से समृद्ध हो सकें।

यदि विद्यासागरजी की संस्कृत पुस्तकों की चर्चा करें तो संस्कृत व्याकरण पर लिखी गई पुस्तकें, संस्कृत के शात्रीय ग्रंथों का संपादन कार्य तथा प्राइमरी से उच्चतर कक्षाओं तक की पुस्तकें सामने आती हैं।

संस्कृत व्याकरण की पुस्तकें पारंपरिक रूप से सूत्र शैली में लिखी जाने के कारण काफी जटिल होती थीं। उन दिनों छात्र प्रारंभ में बोधदेव की 'मुग्धबोध' व्याकरण पढ़ते थे। यहाँ रटंत विद्या से काम चलाना पड़ता था। विद्यासागरजी ने भी स्वयं इस समस्या को झेला था। इसलिए उन्होंने ही इसका हल निकालने का निर्णय लिया।

इस विषय में एक रोचक प्रंग भी कहा जाता है। विद्यासागरजी के एक घनिष्ठ मित्र थे रटंत राधाकृष्ण बनर्जी। एक दिन उन्होंने विद्यासागरजी के छोटे भाई को 'मेघदूत' का सस्वर वाचन करते सुना तो संस्कृत भाषा के लालित्य पर मोहित होकर इसे सीखने का निश्चय कर लिया, किंतु केवल निश्चय कर लेने से ही तो कोई कार्य संभव नहीं हो जाता।

संस्कृत सीखने बैठे तो व्याकरण की क्लिष्टता से घबराकर हार मान ली। कहते हैं कि मित्रता के नाते विद्यासागरजी ने उनके लिए रात भर जागकर बँगला में संक्षिप्त व्याकरण तैयार कर दी, ताकि वे आसानी से भाषा सीख सकें।

बाद में उन्हें नोट्स के आधार पर संस्कृत की छोटी व्याकरण पुस्तकें लिखी गइऔ। फिर उन्होंने 'कंजुपाठ' नाम से तीन भागों में संस्कृत की शात्रीय रचनाओं का संकलन प्रस्तुत किया। उन्होंने पाठ्यपुस्तकें लिखीं, अनुवाद किए तथा गंथों के छाया-रूपांतर प्रस्तुत किए। वे सदा भाषा को एक समूह व विकसित रूप देने के लिए प्रयत्नशील रहे।

छात्रों के लिए लिखी गई पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त विद्यासागरजी की अन्य पुस्तकों से भी भाषा के परिमार्जन व शुद्धीकरण का उद्देश्य प्रतिबिंबित होता है।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा मौलिक व संपादित पुस्तकें

संपादित पुस्तकें

- वेताल पचीसी (कथा संग्रह)
- मेघदूतम् (गीति काव्य)
- हर्षचरितम् (हर्षवर्धन की जीवनी)
- उत्तर चरितम् (भवभूति का नाटक)
- सर्वदर्शन संग्रह (भारतीय दर्शन)
- रघुंशम् (महाकाव्य)
- आनंदमंगल (दो भाग)
- कादंबरी
- शिशुपालवधम्
- अभिज्ञानशाकुंतलम्
- किरातार्जुनीयम्

मौलिक पुस्तकें

- बांग्लार इतिहास
- वेताल पञ्चविंशति
- जीवन चरित
- ॠजु पाठ (भाग-एक)
- ॠजु पाठ (भाग-दो)
- ॠजु पाठ (भाग-तीन)
- महाभारत

व्याकरण कौमुदी (पहला-भाग)

व्याकरण कौमुदी (दूसरा-भाग)

शब्द मंजरी

भंति विलास

बोधोदय

वर्णपरिचय (भाग-एक)

वर्णपरिचय (भाग-दो)

आख्यान मंजरी

कथामाला

चरितावली

उपक्रमणिका

विधवा-विवाह

भूगोल-खगोल वर्जनम्

संदर्भ सूची

1. ईश्वरचंद्र विद्यासागर - हिरण्यमय बनर्जी
2. ईश्वरचंद्र विद्यासागर - परमहंस विनोद
3. ईश्वरचंद्र विद्यासागर - विनय घोष
4. Ishwar Chandra Vidyasagar and his elusive Milestones - Ashok Sen
5. Ishwar Chandra Vidyasagar : A Story of his Life & Work - Sujal Chandra Mitra
6. Hindu Patriot - समाचार-पत्र
7. तत्त्वबोधिनी पत्रिका - पत्रिका
8. विद्यासागर चरित - रवींद्रनाथ ठाकुर
9. विद्यासागर - चंडीचरण बनर्जी
10. आत्मकथा - नारायण बनर्जी
11. विद्यासागरजीवनचरित - शंभुंद्र विद्यारत्न